सत्साहित्य-प्रकाशन

मानव और धर्म

—जीवन मे धर्म के महत्व का विवेचन

इन्द्रचन्द्र शास्त्री

१९६३

सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय
मंत्री, सस्ता साहित्य मण्डल
नई दिल्ली

मुद्रक
शान्तिलाल जैन
श्री जैनेन्द्र प्रेस,
बंगलो रोड, जवाहरनगर,
दिल्ली-६

जिन्होने साधु के कठोर व्रतों का पालन करते हुए भी लोक-सेवा के बहुत-से काम किये और धर्म के मूल तत्वो को मानव-जीवन मे प्रतिष्ठित करने के लिए सतत प्रयास किया, उन

स्व० जैनाचार्य श्री विजयवल्लभ सूरी

की

पावन स्मृति मे

प्रकाशकीय

वर्तमान मानव, जीवन के शाश्वत मूल्यो को छोडकर अस्थायी मूल्यो की ओर झुक रहा है। परिणामस्वरूप समस्याए और सघर्ष उत्त-रोत्तर वढ रहे है। वैयक्तिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय जीवन अशान्त होगया है। तात्कालिक समावान अपने-आपमे समस्याओ का रूप धारण कर रहे हैं। ऐसी स्थिति मे एक ही मार्ग है कि शाश्वत मूल्यो की पुन प्राण-प्रतिष्ठा की जाय और इसका अर्थ है वर्म को जीवन का आधार वनाना।

प्राचीन भारत मे भौतिक मूल्यो के स्थान पर आध्यात्मिक मूल्यों को महत्त्व मिलता रहा है। यही कारण है कि वह ऐसे महापुरुषो एव परम्पराओ को जन्म दे सका, जिन्होने समस्त विश्व मे प्रकाग-स्तम्भ का कार्य किया। वर्तमान विश्व को उस प्रकाश-स्तम्भ की आवश्यकता और भी अधिक है, किन्तु सकुचित साम्प्रदायिकता ने उसे ढक लिया है। आवश्यकता इस वात की है कि आवरण हटाकर उस प्रदीप को पुन. प्रज्वलित किया जाय, जिससे अन्वकार मे भटकती हुई मानवता प्रकाश प्राप्त कर सके।

प्रस्तुत पुस्तक इसी विपय पर प्रकाश डालती है। विद्वान् लेखक ने विभिन्न धर्मो का गहराई से तुलनात्मक अध्ययन किया है और मानव-जीवन के सदर्भ मे उसके महत्त्व का इस पुस्तक मे विवेचन किया है। हमें विश्वास है कि यह कृति सभी वर्गों एव विश्वासो के पाठको के लिए लाभदायक होगी।

हमे हर्ष है कि इस पुस्तक के प्रकाशन के साथ दिवगत जैनाचार्य श्री विजयवल्लभ सूरी की स्मृति जुडी हुई है। आचार्यजी शुष्क क्रिया-काण्ड एव हृदय-हीन निवृत्ति के समर्थक नही थे और न ऐसी प्रवृत्ति के, जिसमे मानव की अन्तरात्मा लुप्त हो जाय। उनके जीवन मे दोनो

का सुन्दर समन्वय था। वह साधु थे, फिर भी उनकी प्रेरणा से स्थान-स्थान पर शिक्षा-सस्थाओ की स्थापना हुई, विशाल-संख्यक दरिद्र भाइयों को आर्थिक एव अन्य सहायता द्वारा स्वावलम्बी बनाया गया, बडी सख्या में देवालयो के निर्माण द्वारा आध्यात्मिक चेतना को जागृत किया गया।

हम चाहते है कि ऐसी और भी पुस्तके निकलें, जो धर्म को सम्प्रदायवाद की संकीर्ण सीमाओ से मुक्त और जीवन में धर्म की उपादेयता को सिद्ध करने मे सहायक हो।

—मन्त्री

विषय-सूची

खण्ड १

१. मूल प्रश्न ९
२. समस्याओ का वर्गीकरण १५
३. धर्म और राजनीति २२
४ मानव और सघर्ष २६
५. मूल्याकन का आधार ३५
६. अज्ञात मानव ४८
७. धर्म को चुनौती ६१
८ धर्म और व्यक्तित्व ७७

खण्ड २

१. धर्म का स्वरूप ८७
२. धर्म और पथ १०३
३ धर्म का ध्येय १०८
४. धर्म के तीन तत्त्व ११७
५. धर्म का प्रथम सोपान १२१
६. साधना के विविध रूप १२७

खण्ड ३

१. धर्म-सस्था का जन्म १३१
२. धर्म-सस्था के दो रूप १३४
३. भारत की प्राचीन परम्पराए १३९
४. भारतीय परम्पराओ का ऐतिहासिक सिंहावलोकन १४८

खण्ड ४

१. हिन्दू धर्म १६३
२. बौद्ध धर्म १७२
३. जैन धर्म १८१

खण्ड ५

१. कुछ ज्वलन्त प्रश्न १९२

मानव और धर्म

मानव और धर्म

: १ :

मूल प्रश्न

प्रत्येक व्यक्ति मे सुखपूर्वक जीने की इच्छा स्वाभाविक है। इसमे दो तत्त्व मिले हुए है · जीना और सुख प्राप्त करना। जीने का अर्थ है अपने अस्तित्व की रक्षा और सुख का अर्थ है अभिलापाओ एव कामनाओ की पूर्ति। इन दोनों के लिए मानव चिरन्तन काल से सघर्ष करता चला आ रहा है। इस सघर्प के विविध रूपो को जानने से पहले इन दोनो इच्छाओ का वास्तविक रूप समझना आवश्यक है।

भगवद्गीता मे इन इच्छाओ के लिए 'योग' और 'क्षेम' शब्द का प्रयोग है। योग का अर्थ है, अलब्ध अर्थात् जो प्राप्त नही है उसकी प्राप्ति; और क्षेम का अर्थ है प्राप्त की रक्षा। प्राणी अनादिकाल से इन दोनों के लिए चिन्तित है। दूसरे शब्दो मे कहा जाय तो क्षेम का अर्थ है अस्तित्व की रक्षा और योग का अर्थ है सुख की प्राप्ति। यह एक ऐसी अनुभूति है जो सदा नवीन प्राप्ति पर अवलम्बित है। प्राय नई वस्तुओ का प्राप्त होना, नये आमोद-प्रमोदो का मिलना एव नये भोग-विलासो की उपलब्धि ही सुख का कारण होती है।

जीने की इच्छा का साधारण अर्थ अपने प्राण व शरीर को टिकाये रखने की इच्छा किये जाना है, किन्तु वास्तव मे देखा जाय तो इसमे वे सभी बातें आती है जिन्हे मानव अपने अस्तित्व का आवश्यक अग मान लेता है। उदाहरण के रूप मे परिवार, धन-सम्पत्ति, कुल-मर्यादा, प्रतिप्ठा, स्वाभिमान आदि बाते भी क्रमश. इसीमे सम्मिलित हो जाती है। जिस व्यक्ति के पास शरीर धारण करने के लिए भी पर्याप्त साधन नही है, और जो दो रोटियो के लिए कुल, स्वाभिमान आदि सब-कुछ छोड़ने के लिए

तैयार है, उसके लिए जीवन की मर्यादा उतनी ही है, किन्तु जो व्यक्ति प्रतिष्ठा आदि को अपने जीवन का आवश्यक तत्त्व मान चुका है, उसके लिए उनका उतना ही मूल्य है, जितना प्राणो का। बहुत बार प्राणो का बलिदान देकर भी वह उनकी रक्षा करना चाहता है। सतीत्व को महत्त्व देने वाली भारतीय महिलाओ ने उसकी रक्षा के लिए प्राण त्याग दिये। क्षत्रियो मे तनिक से भूखण्ड अथवा प्रतिष्ठा के प्रश्न को लेकर परस्पर हजारो युद्ध हुए और उनमे असख्य व्यक्तियो के प्राण चले गए। इस प्रकार हम देखते हैं कि मनुष्य ज्यो-ज्यो उन्नति करता है, और उसकी सम्पत्ति तथा प्रतिष्ठा मे वृद्धि होती जाती है, उसके लिए जीवन का क्षेत्र भी विशाल होता जाता है।

धर्मशास्त्र ने जीवन-क्षेत्र के इस विस्तार को अस्मिता, अहकार, मोह, तृष्णा आदि शब्दो से प्रकट किया है। उसकी दृष्टि मे व्यक्ति अपने-आपमे शुद्ध चैतन्य या आत्म-स्वरूप है। ज्यो-ज्यो बाह्य सम्पर्क बढता है, वह बाह्य वस्तुओ को अपनी मानने लगता है, और उनके अस्तित्व की रक्षा को जीवन के प्रश्न मे सम्मिलित कर लेता है। यह भी स्पष्ट है कि अहकार के इस विस्तार का कोई ठोस आधार नही होता। वह केवल व्यक्ति की मिथ्या धारणा पर अवलम्बित है। इस धारणा के परिणाम-स्वरूप अनेक विकट समस्याए खडी हो गईं; इसका पहला परिणाम यह हुआ है कि 'स्व' के क्षेत्र मे सम्मिलित वस्तुओ की रक्षा के लिए मनुष्य को सतत चिन्ता रहने लगी और उसमे उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई। उनकी रक्षा के लिए शस्त्रास्त्र, सेना, किलेबन्दी आदि साधनो का आविष्कार हुआ, किन्तु वे स्वय भय के कारण बन गए। इस प्रकार मानव उत्तरोत्तर उलझ गया। उपनिषदो मे इस उलझन को 'लूतातन्तु-न्याय' द्वारा प्रकट किया गया है। लूता, अर्थात् मकडी, छोटे-छोटे कीडो को फसाने के लिए जाला बुनती है किन्तु स्वय उसमे फस जाती है। इसी प्रकार मानव ने जिन तत्त्वो को सुखदायी समझकर स्व के रूप मे अपनाया, वे ही पीडाकारी सिद्ध हो रहे है। वह अपने ही कल्पित 'स्व' मे फस गया है और उसका दम घुट रहा है।

दूसरी ओर 'स्व' के विस्तार ने पारस्परिक सघर्षों को जन्म दिया। जब एक व्यक्ति वन, सम्पत्ति अथवा भूमि पर अधिकार करके बैठ गया तो दूसरे को उनसे वंचित होना पडा। परिणामस्वरूप मानव और मानव में वैषम्य उत्पन्न हो गया। वैषम्य ने ईर्ष्या को जन्म दिया और ईर्ष्या ने कलह को। इस प्रकार युद्धों का सूत्रपात हुआ।

इन युद्धो के लिए सैनिक संगठन की आवश्यकता पडी। परिणामस्वरूप एक परिधि की कल्पना की गई और मानव उस परिधि के अन्दरवालो को 'स्व' तथा बाहरवालो को 'पर' कहने लगा। इस स्व की सर्वप्रथम परिधि कुल अथवा परिवार थी। धीरे-धीरे वह ग्राम, बस्ती या पड़ाव से आगे बढती हुई विशाल राष्ट्र तक फैल गई। जाति, धर्म, पथ, समाज, भाषा, प्रान्त, राष्ट्र आदि के नाम से बननेवाली वे परिधिया अब भी मानव-मानव के बीच दीवार खडी करने का प्रयत्न कर रही है। इन परिधियो द्वारा निर्मित इकाइयो का परस्पर सम्बन्ध सदा से द्वेष-पूर्ण चला आया है। सस्कृत भाषा के बहुत-से शब्द इस तथ्य को प्रकट करते है। उनमे से एक शब्द है 'सग्राम', जिसका प्रचलित अर्थ है युद्ध; किन्तु इसका यौगिक अर्थ है दो या अधिक ग्रामो का परस्पर मिलना। यह मिलना युद्ध के अतिरिक्त अन्य किसी उद्देश्य से नही होता था। फल-स्वरूप सग्राम शब्द का अर्थ ही युद्ध हो गया। दूसरा शब्द है 'जन्य'। इसका यौगिक अर्थ है, दो जनो अर्थात् कुटुम्बो का मिलना, किन्तु इसका भी प्रचलित अर्थ युद्ध है। दो कुटुम्ब अथवा कुल युद्धार्थी के रूप मे ही एक-दूसरे के सामने आते थे। विजित कुटुम्ब के पुरुष प्राय विजेता द्वारा मार दिए जाते थे या दास बना लिए जाते थे और स्त्रिया अन्त पुर मे बन्दी बना ली जाती थीं। इसी के लिए सस्कृत मे 'अवरोध' शब्द है, जिसका यौगिक अर्थ है 'घेरा', किन्तु प्रचलित अर्थ अन्त पुर बन गया है। विवाह-प्रथा का वर्तमान रूप भी उन अवशेषो को लिये हुए है। वर का कमर मे तलवार बाधकर अपने साथियों के साथ जाना, कन्यावालो के तोरण-द्वार पर प्रहार करना, मुन का ढंका रहना आदि बातें उसीका स्मरण दिलाती हैं। पजाबी भाषा मे बरात को 'जन्न' कहते है, जो 'जन्य' से बिगडकर बना है।

ग्रामो के पश्चात् छोटे-छोटे जनपदो के रूप मे राज्य अस्तित्व मे आये और उनमे परस्पर युद्ध चलते रहे। उन्होने ही विस्तृत होकर विभिन्न राष्ट्रो का रूप ले लिया। साधारणतया माना जाता है कि राष्ट्रीय इकाइयो का आधार भौगोलिक अथवा सास्कृतिक एकता है; किन्तु यह कथन-मात्र है, राष्ट्रो की वर्तमान सीमाए इसका समर्थन नही करती। नदी, पर्वत आदि भौगोलिक व्यवधानो के होने पर भी अनेक विशाल राष्ट्र एक इकाई माने जाते हैं। उनमे अनेक भाषाए बोलनेवाली, विविध वेश-भूषा एव रहन-सहनवाली, विविध धर्मो को माननेवाली तथा परस्पर-भिन्न मानव-वशो से सम्बन्ध रखनेवाली अनेक जातियाँ रहती हैं। इसी प्रकार एक ही मानव-वश से सम्बन्ध रखनेवाली अनेक जातियाँ भौगोलिक व्यवधान न होने पर भी परस्पर-भिन्न राष्ट्र बनी हुई हैं। इन इकाइयो का ज्यो-ज्यो विस्तार होता गया, युद्ध भी उत्तरोत्तर विशाल एव विकराल होते गए। नये-नये शस्त्रास्त्रो का विकास हुआ और उनकी सहारक शक्ति बढती चली गई। अणु तथा उद्जन-बमो के आविष्कार से उनकी सहार-शक्ति अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई है और समस्त मानव-जाति का अस्तित्व खतरे मे पड गया है। अमरीका भौगोलिक परिधि-विशेष के अन्दर बसे हुए व्यक्तियो को 'स्व' मान रहा है, उससे बाहरवालो को 'पर'। वह 'स्व' की रक्षा एव सुख-समृद्धि के लिए चिन्तित है और अनवरत प्रयत्न कर रहा है। किन्तु उसकी दृष्टि मे 'पर' के अस्तित्व या जीवन का कोई मूल्य नही है। बिना किसी सकोच के वह 'पर' के विनाश मे प्रवृत्त हो सकता है। रूस आदि अन्य देशो का भी यही हाल है। 'स्व' और 'पर' मे इस भीषण भेद-बुद्धि का कोई ठोस कारण नही बताया जा सकता। इसका एकमात्र कारण व्यक्ति की मिथ्या धारणा है। इस प्रकार हम देखते है कि अस्तित्व-रक्षा की मनोवृत्ति अन्य आसुरी वृत्तियों के साथ मिलकर भीषण रूप ले चुकी है। एक दृष्टि से देखा जाय तो प्राणी जिन बातो को एक बार 'स्व' की सीमा मे सम्मिलित कर लेता है, उन सभी की रक्षा अस्तित्व-रक्षा का प्रश्न बन जाती है। निम्न कोटि के पशुओ मे यह वृत्ति प्राण-धारण तक सीमित है। बडे पशुओ मे सन्तान-रक्षा का

भी उसमे समावेश पाया जाता है। मनुष्यो मे वह धन-सम्पत्ति, परिवार, प्रतिष्ठा, कीर्त्ति आदि के रूप मे उत्तरोत्तर विस्तृत होती चली गई है।

शास्त्रीय परिभाषा मे इन वृत्तियो की तीन श्रेणियाँ है ·

१. तामसिक—यह उन प्राणियो मे पायी जाती है जिनमे मान-मर्यादा, सामाजिक प्रतिष्ठा, परस्पर प्रेम आदि का कोई भान नही है, और न जिनके सामने कोई महत्त्वाकाक्षा है। केवल शरीर धारण करना और पेट भरना ही उनके जीवन का लक्ष्य है।

२ राजसिक—यह उन व्यक्तियो मे पायी जाती है जो सासारिक भोगो का आनन्द लेना चाहते है और उसके लिए धन-सग्रह, युद्ध, उद्योग तथा ऐसे ही अन्य प्रयत्नो मे लगे हुए है। उनका मन राग-द्वेष, ईर्ष्या-घृणा, मिथ्याभिमान आदि वासनाओ एवं आवेगो से दवा रहता है।

३. सात्त्विक—यह उन व्यक्तियो मे पायी जाती है जो सामाजिक प्रतिष्ठा तथा कीर्ति को सर्वाधिक महत्त्व देते है और इसके लिए दूसरो की सेवा, ज्ञान-साधना, परोपकार-सरीखे कार्यो मे लगे रहते हैं।

आगे चलकर वताया जायगा कि धर्म के दो रूप है— लौकिक तथा लोकोत्तर। लौकिक धर्म स्वरक्षा के लिए तामसिक तथा राजसिक वृत्तियो को छोड़कर सात्त्विक वृत्ति अपनाने पर वल देता है और लोकोत्तर धर्म उससे भी ऊपर उठने के लिए कहता है।

इच्छा का दूसरा रूप सुखैषणा से सम्बन्ध रखता है। अस्तित्व-रक्षा के समान इसके भी अनेक रूप है। साधारण व्यक्ति इन्द्रियो का सुख प्राप्त करना चाहता है, अर्थात् वह सुन्दर रूप को देखना, मधुर शब्द सुनना, सुगन्ध लेना, रसपूर्ण आस्वाद तथा कोमल स्पर्श पसन्द करता है और उनकी उपलब्धि होने पर सुख का अनुभव करता है। उनसे आगे वढकर प्रशंसा, स्वजन-प्रेम, शत्रु का नाश आदि भी सुख के साधन है। वह अपने अहंकार की पूर्ति के लिए दूसरो का दमन करना चाहता है। दूसरो की उन्नति से ईर्ष्या करता है और उनका पतन देखना चाहता है। इस प्रकार सुखैषणा भी उसे 'स्व' और 'पर' मे भेद, 'पर' का दमन एव 'स्व' का

अभ्युदय तथा अपनी अतृप्त वासनाओ की तृप्ति के लिए प्रेरित करती है। परिणामस्वरूप अशाति एव सघर्ष का जन्म होता है।

प्रसिद्ध इतिहासकार टॉयनवी का कथन है कि मानवता की सवसे वडी समस्या है उसका स्व-केन्द्रित होना। प्रत्येक व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र अपनेको केन्द्र मे रखकर सोचता है। वह जिसे अपने लिए अनुकूल समझता है उसे निजी पक्ष मे रखता है और अच्छा समझता है। जिसे अपने प्रतिकूल मानता है, उसे शत्रु-पक्ष मे रखता है और वुरा समझता है। उससे घृणा और द्वेष करता है। उसके विनाश के लिए प्रयत्नशील रहता है। यही से सघर्षो का जन्म होता है और वे उत्तरोत्तर व्यापक एव विकराल वनते चले जाते है। धर्म का कार्य है उन्हे स्व-केन्द्रितता की इस सकुचित परिधि से निकालकर विश्व-प्रेम, सर्वमैत्री या समता की भूमिका पर खडा करना।

हमने देखा कि सुखपूर्वक जीने की साधारण इच्छा ने अन्य वृत्तियों के साथ मिलकर कैसा विकराल रूप ले लिया। जीवन-रक्षा की तथाकथित तैयारी ने ही जीवन को खतरे मे डाल दिया; इसी प्रकार सुख-प्राप्ति के प्रयत्न ने ही सुख एव शान्ति को सदा के लिए समाप्त कर दिया। इसका कारण यह है कि मनुष्य एक ओर यह भूल गया कि मै क्या हू, दूसरी ओर वह इस बात को नही समझ सका कि सुख कहा है। धर्म इन्ही प्रश्नो का समाधान करता है।

: २ :

समस्याओं का वर्गीकरण

सुखपूर्वक जीने की इच्छा ने जिन समस्याओ एव सघर्षो को जन्म दिया, उन्हे अनेक प्रकार से उपस्थित किया जाता है। व्यक्ति, लक्ष्य तथा प्रयत्न की दृष्टि से उसके अनेक रूप है।

व्यक्तिमूलक वर्गीकरण

जहा तक व्यक्ति का प्रश्न है उन्हे तीन भागो में विभक्त किया जा सकता है

१ स्व-कृत, २ पर-कृत, तथा ३ प्रकृति-कृत। प्रथम वर्ग मे वे समस्याएं आती है, जिनका उत्तरदायित्व स्वय व्यक्ति पर है और जो किसी बाह्य आधार पर अवलम्बित नही हैं। उदाहरणस्वरूप, एक व्यक्ति अधिक या अस्वास्थ्यकर भोजन के कारण बीमार पड जाता है, तो उसका उत्तर-दायित्व स्वय उसपर है। इसी प्रकार अनुचित रहन-सहन, काम-क्रोध आदि वासनाओ के वशीभूत होना, उच्छृङ्खल जीवन, आलस्य, विवेकहीनता, अनुशासनहीनता आदि के कारण जो कष्ट उठाने पडते है, उनके लिए मनुष्य स्वयं उत्तरदायी है।

दूसरा वर्ग उन समस्याओ का है जो परस्पर-व्यवहार के कारण उपस्थित होती हैं। चोरी, डकैती, हिंसक आक्रमण, आर्थिक शोषण, कठोर नियन्त्रण आदि से उत्पन्न होनेवाले कष्ट इस कोटि मे आते हैं। मनुष्य अपने मन मे 'स्व' और 'पर' का कृत्रिम भेद खडा कर लेता है और वह स्व-वर्ग को पर-वर्ग के प्रति अन्याय या शत्रुतापूर्ण व्यवहार के लिए उकसाता रहता है।

तीसरी कोटि उन समस्याओ की है, जो प्रकृति की कठोरताओ के कारण उत्पन्न होती है। अतिवृष्टि, अनावृष्टि, बाट, दुर्भिक्ष, महामारी, भूकम्प आदि उपद्रव उस कोटि मे आते है। इनमे मे कुछ ऐसे भी हैं, जो दूसरी कोटि मे भी आते है। उदाहरण के रूप मे, दुर्भिक्ष प्राकृतिक उपद्रव भी है और मनुष्यकृत भी। जब वर्ग-विशेष मुनाफाखोरी, पर-उत्पीडन या अन्य किसी दुर्भावना से प्रेरित होकर दूसरे वर्ग को जीवन की आवश्यक सामग्री से वंचित कर देता है, तो वह दुर्भिक्ष दूसरी कोटि मे आयेगा। इसी प्रकार शत्रु-राज्य पर कीटाणु अथवा अन्य ऐसे अस्त्रो का प्रयोग, जिनमे सक्रामक रोग फैल जाय, मनुष्य-कृत उपद्रव है।

इन समस्याओ के समाधान के लिए मनुष्य ने अनेक उपायो का आविष्कार एव विकास किया। स्व-कृत समस्याओ का समाधान करने के लिए धर्म सस्था को जन्म दिया, पर-कृत समस्याओ का समाधान करने के लिए राज्य-सस्था को और प्रकृति-कृत समस्याओ का समाधान करने के लिए भौतिक विज्ञान को।

धर्म का कथन है कि व्यक्ति को अपनी इच्छाओ पर नियन्त्रण करना होगा, जीवन में परस्पर-प्रेम तथा त्याग-भावना को अपनाना होगा; इसके बिना समस्याओ का समाधान नही हो सकता। राजनीति ने आगे बढकर कहा कि इस बात की कोई आवश्यकता नही है। उसने समस्याओ का दो भागो मे वर्गीकरण किया आन्तरिक तथा बाह्य। आन्तरिक समस्याओ का समाधान करने के लिए एक सविधान बनाया और उसका बलपूर्वक पालन कराने के लिए न्यायालय, पुलिस तथा अन्य विभागो को जन्म दिया। दूसरी ओर सुख-सम्पत्ति की वृद्धि के लिए कल्याण-कारी योजनाए प्रारम्भ की। किन्तु आन्तरिक शान्ति स्थापित नही हुई। इच्छा के विस्तार ने प्रतिस्पर्द्धा को जन्म दिया और उपर्युक्त सभी उपायो का उपयोग परस्पर-सहयोग एव सुख-वृद्धि के स्थान पर एक-दूसरे के शोषण एव उत्पीडन मे होने लगा। लोकतन्त्रीय शासन-पद्धति ने अनुचित महत्त्वाकाक्षाओ को जन्म दिया और उनकी पूर्त्ति के लिए वैध तथा अवैध सभी तरह के उपाय बरते जाने लगे। बाह्य दमन ज्यो-

ज्यो कठोर हुआ, आन्तरिक प्रतिक्रिया भी उग्र होती गई। इस विपम परिस्थिति को देखने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि आन्तरिक सयम के विना वाह्य नियन्त्रण निष्फल है। जव तक परस्पर-प्रेम एव सद्भावना का विकास नही होता, कानून शान्ति स्थापित नही कर सकता।

वाह्य समस्याओ का अर्थ है अन्य राष्ट्रो के साथ परस्पर-व्यवहार के कारण उत्पन्न होनेवाली समस्याए। इनका समाधान करने के लिए राजनीति ने सेना तथा शस्त्रास्त्रो की वृद्धि पर वल दिया। उसे आशा थी कि इससे शत्रु डर जायगा, किन्तु वह न डरा, प्रत्युत उत्तरोत्तर भीषण होता गया। दोनो ओर भयकर तैयारिया होने लगी और मानवता काप उठी। इस प्रकार हम देखते हैं कि धर्म का सहारा लिये बिना राजनीति असफल सिद्ध हुई। इतना ही नही, रक्षा के स्थान पर भय का कारण वन गई।

हमने देखा कि राजनीति और विज्ञान मानव-कल्याण के लिए प्रवृत्त हुए, किन्तु धर्म का साथ छोड देने पर वे ही अशाति एव विनाश का कारण वन गए। इसके विपरीत यह भी ठीक है कि अकेला धर्म सब समस्याओ का समाधान नही कर सकता। वह हमारे सामने एक आदर्श अथवा लक्ष्य उपस्थित करता है और यह निश्चित है कि हम उस लक्ष्य की ओर जितना वढेंगे, उतनी ही सुख-शान्ति की वृद्धि होगी। किन्तु उसके लिए साधारण आवश्यकताओ की अवहेलना नही की जा सकती। भोजन, वस्त्र, निवास आदि जीवन की अनिवार्य आवश्यकताए है और उनकी पूर्त्ति के लिए विज्ञान का आश्रय लेना होगा। इसी प्रकार जवतक प्रत्येक मानव धर्मात्मा नही वन जाता और दुनिया मे चोरी, डकैती आदि अपराध मौजूद है, परस्पर-द्वेप तथा प्रतिस्पर्द्धा विद्यमान है, तवतक राजनीति का परित्याग नही किया जा सकता; फिर भी यहनिश्चित है कि धर्म के विना राजनीति, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, विज्ञान आदि कोई तत्त्व कल्याणकारी नही वन सकता, उसके विना वे पोषक के स्थान पर शोपक वन जायेगे।

कारणमूलक वर्गीकरण

ऊपर वताया जा चुका है कि सुखपूर्वक जीने की इच्छा अन्य मनो

वृत्तियो के साथ मिलकर विकृत हो गई और उसने अनेक समस्याओ को जन्म दिया। विचार करने पर उनके मूल कारणो को तीन भागों मे विभक्त किया जा सकता है १ अभाव, २ अन्याय और ३ अज्ञान। अभाव का अर्थ है, जीवन-रक्षा अथवा सुख-प्राप्ति के लिए पर्याप्त सामग्री का न मिलना। इसके कई कारण हो सकते हैं

१ प्राकृतिक कारण—इसका अर्थ हे अतिवृष्टि, अनावृष्टि, बाढ आदि प्राकृतिक उपद्रवो के कारण जीवन-सामग्री का नष्ट हो जाना और परिणामस्वरूप आवश्यकता के अनुसार उपलब्ध न होना। प्राचीन काल मे प्राकृतिक उपद्रव अभाव के मुख्य कारण रहे हैं। उन दिनो दुर्भिक्ष के कारण हजारो व्यक्ति मर जाते थे और गाव सूने हो जाते थे। किन्तु वैज्ञानिक विकास ने इसपर विजय प्राप्त कर ली है। यदि समस्त मानवता परस्पर-सहयोग के साथ रहे तो दुर्भिक्ष या खाद्य-सामग्री की कमी के कारण किसीके मरने का अवसर नही आ सकता।

२ स्वार्थवृत्ति—अभाव का दूसरा कारण स्वार्थवृत्ति है, जहा मनुष्य मुनाफा कमाने या अन्य किसी स्वार्थ से प्रेरित होकर कृत्रिम अभाव को खडा करता है। कहा जाता है कि अमरीका के व्यापारी लाखो टन अनाज समुद्र मे डुबो देते है या अन्य प्रकार से नष्ट कर डालते है। उनका एकमात्र उद्देश्य होता है बाजार मे ऊँचा भाव बनाये रखना और वे सोचते है कि अधिक सामग्री उपलब्ध होने पर भाव गिर जाएगा। कुछ वर्ष पहले बगाल मे दुर्भिक्ष आया। व्यापारियो के पास चावल एव अन्य खाद्य सामग्री का पर्याप्त सग्रह था, फिर भी हजारो व्यक्ति भूखे मर गये। इसका एकमात्र कारण था व्यापारियो की स्वार्थवृत्ति। वे अपने सग्रह को ऊचे भाव पर बेचना चाहते थे और भूखो के पास पैसा नही था। युद्ध, दुर्भिक्ष तथा अन्य सकटो के समय व्यापारियो द्वारा भाव बढा देने और कृत्रिम अभाव उत्पन्न करने की मनोवृत्ति सर्वविदित है।

३ कामनाओ की वृद्धि—अभाव का तीसरा कारण कामनाओ की वृद्धि है। जब प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छाओ को अबाध बना देता है और उनकी पूर्त्ति के लिए दूसरे का अधिकार छीनने लगता है, उस समय उसका

अवश्यम्भावी परिणाम वैषम्य और कृत्रिम अभाव है। मान लीजिए, सौ परिवारो के पास रहने के लिए दो सौ कमरे है । यदि उनमे से कुछ परिवार दो से अधिक कमरो को रोकते है तो उसका अवश्यम्भावी परिणाम अन्य परिवारो के लिए निवास की कमी होगा। जीवन-सामग्री कितनी भी हो, यदि मनुष्य अपनी इच्छाओ पर नियत्रण नही करता तो कमी अवश्य पडेगी और उसका परिणाम होगा वर्ग-सघर्प।

४ **अहंकार**—बहुत बार ऐसा भी होता है कि शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति अपनी अहकार-भावना से प्रेरित होकर दूसरो पर अधिकार जमाना चाहता है। यदि वर्गविशेप उसकी अधीनता को स्वीकार नही करता, तो वह उसकी जीवन-सामग्री को नष्ट कर डालता है।

५ **मिथ्या अस्मिता**—विश्व मे प्रतिष्ठा के अनेक आधार माने जाते है—त्याग, विद्वत्ता, नि स्वार्थ सेवा, प्रभुता, धन-सम्पत्ति आदि। किन्तु वर्तमान युग मे दो ही वास्तविक आधार रह गए हैं, वे है प्रभुता और धन-सम्पत्ति। परिणामस्वरूप मानव इन दोनो के लिए आतुर रहता है। प्रभुता का आधार राजकीय सत्ता है। उसे प्राप्त करने के लिए भी धन बहुत वडा साधन है। परिणामत. धन-सग्रह मनुष्य की सहज वृत्ति वन गया है और उसका अवश्यम्भावी परिणाम है अभाव।

उपर्युक्त कारणों मे प्रथम को छोडकर शेष सभी मानवीय दुर्वृत्तियो से सम्बन्ध रखते है और उन्हें दूर करना धर्म का कर्त्तव्य है।

मानवीय समस्याओ का दूसरा कारण अन्याय है। इसका अर्थ है एक व्यक्ति, वर्ग या राष्ट्र द्वारा दूसरे व्यक्ति, वर्ग अथवा राष्ट्र के अधिकारो का छीन लिया जाना। राजनीति का विश्वव्यापी इतिहास इन्ही अधिकारो की छीना-झपटी का इतिहास है। इसे दूर करने के लिए राष्ट्र-सघ आदि अनेक सस्थाए कार्य कर रही है, फिर भी समस्या उत्तरोत्तर उलझती जा रही है। इसका कारण है हृदय-शुद्धि का अभाव। जबतक प्रत्येक व्यक्ति, समाज या राष्ट्र दूसरे व्यक्ति, समाज या राष्ट्र के प्रति शुद्ध भावना का परिचय नही देता और उसके सुखपूर्वक जीने के समान

अधिकार को स्वीकार नही करता, तब तक समस्या नहीं सुलझ सकती। व्यक्ति का व्यक्ति के प्रति होनेवाला अन्याय भी स्वार्थ-वृत्ति का ही कार्य है।

समस्याओं का तीसरा कारण अज्ञान है। इसके दो रूप हैं— १ निषेधात्मक तथा २ विधेयात्मक। निषेधात्मक रूप का अर्थ है, सत्य से अपरिचित होना, ज्ञान का अभाव, और विधेयात्मक रूप है ज्ञान का विपर्यय। विपर्यय भी दो प्रकार का है—१ भ्रान्तिमूलक, अर्थात् जो वस्तु जैसी नहीं है, उसे वैसी समझना; २. भावनामूलक, अर्थात् जो जैसा नहीं है उसे वैसा मानना। चन्द्रमा का आकार विशाल होने पर भी हमें वह छोटा-सा दिखाई देता है। यह भ्रान्तिमूलक विपर्यय है।

अपनी साम्प्रदायिक, जातीय या प्रादेशिक सकुचित वृत्तियों के कारण हम मनुष्य और मनुष्य के बीच दीवार खडी कर लेते है।

तथाकथित धर्मनायको व देशनायको के निर्णयानुसार हमारी मान्यताए बदलने लगती है। जो कल मित्र था, आज शत्रु हो जाता है। जो कल अपना था, आज पराया हो जाता है। ये मान्यताए भावनामूलक है।

अज्ञान के उपर्युक्त रूपो मे से ज्ञान के अभाव व भ्रान्तिमूलक विपर्यय को दूर करना यह दर्शनशास्त्र का कार्य है और यह महत्त्वपूर्ण भी है; किन्तु विश्वव्यापी अशान्ति, परस्पर-अविश्वास तथा सघर्षो को देखा जाय तो सारा खेल भावनामूलक विपर्यय से ही सम्बन्ध रखता है। वास्तव में उस स्तर पर पहुंचकर धर्म और दर्शन एक हो जाते हैं।

भारत मे दर्शन का उद्देश्य केवल अज्ञान-निवृत्ति ही नही है, वरन् तत्त्व-ज्ञान या अज्ञान-निवृत्ति के द्वारा नि श्रेयस् का साधन भी है।

दर्शन जिस लक्ष्य पर बुद्धि के रास्ते पहुचाता है, धर्म उसी लक्ष्य पर भावना या हृदय के रास्ते से पहुचाता है। ससार मे प्रत्येक व्यक्ति अपनेको बुद्धिमान मानता है और अपने निर्णयो को बुद्धिपूर्ण निर्णय समझता है।

वास्तव मे देखा जाय तो बडे-बडे राजनीतिज्ञो, धर्मनेताओ या अन्य प्रकार के जन-नायको के निर्णयो मे बुद्धि की अपेक्षा भावना का

प्राबल्य होता है। उनके सभी निर्णय राग, द्वेष, अहंकार एवं अन्य प्रकार के पूर्वाग्रहों से एवं मिथ्याभिनिवेशों से संचालित होते हैं।

संयुक्त राष्ट्र-संघ में बड़े-बड़े राष्ट्रों के प्रतिनिधि विश्व की समस्याओं को सुलझाने के लिए इकट्ठे होते हैं, किन्तु वे अपने-पराये के भेद को मिटाने के लिए कभी तैयार नहीं होते। प्रत्येक समस्या को उसी दृष्टि से देखते हैं। कहते हैं परमाणु-युद्ध नहीं होना चाहिए, किन्तु चाहते हैं उनका अपना राष्ट्र तो बच जाय और दूसरे नष्ट हो जायें तो कोई बात नहीं है।

प्रत्येक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को अविश्वास एवं सन्देह की दृष्टि से देखता है। ऊपर से हँसकर स्वागत करता है, किन्तु मन ही मन उसकी पराजय चाहता है। ऐसे वातावरण में शान्ति की स्थापना स्वप्न-मात्र है। भावनाओं का परिष्कार तथा 'स्व' और 'पर' के भेद को मिटा देना ही उसका समाधान उपाय है। यह तभी हो सकता है जब प्रत्येक व्यक्ति विश्व-मैत्री तथा प्राणि-मात्र में समता का पाठ सीख ले और वह केवल सिद्धान्त की ही नहीं, व्यवहार की वस्तु भी बन जाय।

: ६ :

धर्म और राजनीति

हम देख चुके है कि जहा तक परस्पर-व्यवहार का प्रश्न है, मानव चिरकाल से दो वर्गो मे विभक्त है 'स्ववर्ग' और 'परवर्ग'। स्ववर्ग के साथ उसका सम्बन्ध प्राय मित्रतापूर्ण रहा है और परवर्ग के साथ शत्रुतापूर्ण। स्ववर्ग के साथ व्यवहार के लिए धर्म-सस्था का जन्म हुआ और परवर्ग के साथ व्यवहार के लिए राज्य-सस्था का, किन्तु धीरे-धीरे दोनो ने व्यापक रूप ले लिया। धर्म का जन्म परस्पर-सद्भावना तथा प्रेम को लेकर हुआ और राजनीति का शत्रुता, शोपण, उत्पीडन एव आक्रमण के लिए। धर्म कर्त्तव्य को महत्त्व देता है और राजनीति अधिकार को।

पुरातन मानव छोटे-छोटे कुटुम्बो मे विभक्त था। एक कुटुम्ब का दूसरे कुटुम्ब के साथ सघर्ष चलता रहता था। यह सघर्ष बहुत बार ऐसे भीपण युद्ध का रूप ले लेता था कि एक कुटुम्ब दूसरे कुटुम्ब को समाप्त कर डालता था। इस सघर्ष के परिणामस्वरूप कुटुम्बो की सख्या घटती गई और आकार मे वृद्धि होती गई।

प्रकृति के द्वारा दिये गए फल, मूल तथा प्राणि-हिसा पर निर्वाह करनेवाले वे कुटुम्ब जब पडाव डालकर कृषि करने लगे तो उन शिविरो को 'ग्राम' कहा गया। कुटुम्बो के समान ग्रामो का भी परस्पर-सम्बन्ध शत्रुतापूर्ण बना रहा। एक ग्राम के पशुओ का दूसरे ग्राम की खेती में घुस जाना, एक दूसरे की फसल काट लेना आदि बाते युद्ध का कारण बन जाती थी। ग्राम-निवासी अपनी-अपनी सीमाओ पर आ डटते थे और सग्राम छिड़ जाता था।

ग्रामो के परस्पर-सघर्प में जो विजयी होता था, वह पराजित ग्राम

का स्वामी बन जाता था। इस प्रकार ग्रामों की अलग-अलग स्वशासित इकाइया मिटकर जनपद का रूप लेने लगी और राजकीय इकाइयो का रूप विस्तृत होता चला गया।

जनपदो का भी परस्पर-सघर्ष चलता रहा, किन्तु इस सघर्ष का मुख्य कारण प्राय. शासको की लोलुपता या कामुकता हुआ करती थी। दूसरे राज्य पर अधिकार जमाने के लिए, उसकी सम्पत्ति या किसी सुन्दरी का अपहरण करने के लिए एक शासक दूसरे राज्य पर आक्रमण कर देता था और प्रजा-जनो को विवश होकर साथ देना पडता था। दूसरी ओर ऐसा सास्कृतिक प्रचार भी किया जाता था, जिससे प्रजा-जन अपने शासक को देवता मानें, उसकी सुख-सुविधा के लिए अपना सब-कुछ अर्पित करने के लिए तैयार रहे। उसके दोषो को भी गुण समझे और उसकी प्रत्येक आज्ञा को वरदान मानकर स्वीकृत करे। साथ ही दूसरे जनपद के निवासियो एव उसके शासक को घृणा एव द्वेष की दृष्टि से देखे। विश्व का मध्यकालीन इतिहास इस स्थिति को प्रकट करता है, जहा सत्ता-लोलुपता, स्वार्थ-लिप्सा, कामुकता या अन्य किसी वैयक्तिक कारण से प्रेरित होकर एक राज्य दूसरे राज्य पर आक्रमण कर देता था और उस युद्ध मे हजारो निर्दोष मनुष्यों के प्राण चले जाते थे। सैंकडो स्त्रियो को बन्दी बना लिया जाता था, और उन्हे लज्जापूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिए विवश किया जाता था। पर्दा एव अनेक आभूषणो के रूप मे उस युग के अवशेष अब भी विद्यमान है।

परस्पर-सघर्ष करते हुए जनपदीय राज्य और भी विशाल राष्ट्रो के रूप में परिणत हो गए, किन्तु मानव फिर भी सन्तुष्ट नही हुआ। उसने अपनी भौगोलिक सीमाओ को पार करके दूसरे राष्ट्रो मे प्रवेश किया। यह प्रवेश सांस्कृतिक, आर्थिक तथा राजनैतिक—सभी प्रकार के उद्देश्यों को लिये हुए था। सम्राट् अशोक के समय बौद्ध भिक्षुओ ने लका एव अन्य द्वीपों मे सास्कृतिक उद्देश्यो को लेकर प्रवेश किया और उसका फल अत्यन्त मधुर निकला। उसने भारत को उन देशो के साथ सदा के

उपेक्षा होने लगती थी। महाभारत मे कहा गया है कि जो राजा लड़ाइया बन्द कर देता है, उसे भूमि निगल जाती है। अत अपनी उपयोगिता सिद्ध करने की दृष्टि से राजाओ के लिए युद्ध करने आवश्यक हो गए और उनके व्यय का भार प्रजा पर उत्तरोत्तर बढने लगा। फलत कटुता बढ़ती गई और प्रजा राजा को समाप्त करके अपने हाथ मे शासन लेने की बातें सोचने लगी। जहा शासक विदेशी था वहा इस भावना ने और भी उग्र रूप ले लिया। शासक ने प्रजा की इस चेतना को उच्छृङ्खलता कहकर दमन करना प्रारम्भ किया और उसने कही-कही क्षणिक सफलता भी प्राप्त की। किन्तु असंतोष की अग्नि अन्दर-ही-अन्दर सुलगती रही और उत्त-रोत्तर भीषण रूप धारण करती गई। अन्त मे उसने आतकवादी शासक को समाप्त करके ही छोड़ा।

इस प्रकार वैयक्तिक शासन को समाप्त करके प्रजा ने लोकतन्त्र की स्थापना की। व्यवस्थापिका अथवा लोक-सभाओ का निर्माण हुआ और उसके लिए प्रतिनिधियो को चुना जाने लगा। फिर भी यह नही कहा जा सकता कि समस्या का समाधान हो गया। एक स्थायी शासक के स्थान पर अनेक अस्थायी शासक हो गए और लोकसभा मे पैर रखते ही चुनाव के समय दिये गए आश्वासनो को भूल गए। शासन का व्यय-भार अत्यधिक बढ़ गया और सर्वसाधारण महगाई के कारण परेशान रहने लगा। न्याय, शिक्षा, शान्ति आदि मे भी उत्तरोत्तर शैथिल्य आने लगा। दूसरी ओर राज्य की इकाइयो मे ज्यो-ज्यो विस्तार होता गया, शस्त्रास्त्रो मे भी वृद्धि होती गई और युद्ध का रूप उत्तरोत्तर भीषण होता गया। आज परमाणु तथा उद्‌जन-शक्ति के आविष्कार ने उस भीषणता को चरम सीमा पर पहुचा दिया है और मानवता का अस्तित्व खतरे मे पड़ गया है।

इस प्रकार स्व-वर्ग तथा पर-वर्ग, दोनो क्षेत्रो मे उत्पन्न हुई समस्याओं का समाधान करने के लिए मनुष्य चिरकाल से अनेक प्रयोग करता आ रहा है। किन्तु छोटी-सी एक समस्या का समाधान करता है तो उससे भी भीषण दूसरी समस्या खड़ी हो जाती है।

: ४ :

मानव और संघर्ष

उपर्युक्त समस्याओ का समाधान करने के लिए मानव चिरकाल से संघर्ष करता आ रहा है। उसीके फलस्वरूप धर्म, राजनीति, समाज-शास्त्र आदि विविध विद्याओ एव सस्थाओ का जन्म हुआ।

मानव को सर्वप्रथम सघर्ष प्रकृति के साथ करना पडा। जव प्रकृति के उपहार कम हो गए और पशुओ के शिकार पर भी निर्वाह करना कठिन हो गया, तो उसने कृषि-विद्या का आविष्कार किया और खाद्य-सामग्री की उपज को वढाया। इसी प्रकार सर्दी-गर्मी, आधी तथा हिंसक पशुओ के उपद्रवो से वचने के लिए गृहो का निर्माण किया। वर्षा, दावानल, तूफान, वाढ आदि तत्त्वो पर जवतक विजय नही हुई, उनके सामने हाथ जोडता रहा और देवता मानकर उनकी स्तुतिया करता रहा, किन्तु विविध उपायो से उसने उन प्राकृतिक उपद्रवो एव अभावो पर विजय प्राप्त कर ली और अपनेको सुरक्षित अनुभव करने लगा। इसके साथ ही वह उन सव शक्तियो को भूल गया, जिनकी उसने उन तत्त्वो के अधिष्ठाता-देवता के रूप मे कल्पना की थी। अव उसने सब शक्तियो की अधिष्ठात्री किसी एक महती शक्ति की कल्पना की और क्रमश यह अनुभव करना आरम्भ किया कि वह शक्ति उससे भिन्न नही है।

कल्पना की इस उडान से उसे शान्ति तो मिली, किन्तु दैनिक समस्याओ का समाधान न हुआ। वह सैद्धान्तिक चर्चाओ मे ऊची उडाने भरता और क्षणिक आनन्द लेता रहा। पर वे उड़ानें व्यवहार मे न उतर सकी। उसे ऐसी जीवन-पद्धति की आवश्यकता प्रतीत हुई जो व्याव-

हारिक समस्याओ का समाधान केवल सिद्धान्त तथा तर्क के आधार पर नही, वरन् जीवन मे उतरकर कर सके।

प्रकृति के पश्चात् मानव का दूसरा संघर्ष स्वय मानव के साथ हुआ। इसके दो रूप थे : पहला रूप था इतर मानव के साथ और दूसरा स्वय अपने ही साथ। प्रथम रूप पुन. दो भागों मे विभक्त किया जा सकता है—१. अत्याचारी के साथ और २. पीड़ित के साथ। अत्याचारी के भी दो रूप है—वैयक्तिक और दलबद्ध। जब एक व्यक्ति अपनी अतृप्त लालसा से प्रेरित होकर दूसरे के सत्त्व को छीनना चाहता है तो वह वैयक्तिक अत्याचारी है। ऐसे अत्याचारियो को राजनीति की परिभाषा मे अपराधी और धर्म की परिभाषा मे पापी कहा जाता है। ज्यों-ज्यो उनकी वृद्धि होती है, समाज मे अशाति एव अस्थिरता बढती जाती है। राजसत्ता इनका दमन करने के लिए स्वराष्ट्र-विभाग की स्थापना करती है तथा पुलिस एव अन्य साधनो को काम मे लाती है। उनका दमन करने के लिए कानूनो एव साधनो की उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है। फिर भी यह नही कहा जा सकता कि समाज को उनसे छुटकारा मिल गया। एक ओर विधि-शास्त्री ऐसे व्यक्तियो को कानून मे जकडने के लिए नई-नई धाराए घड रहे है दूसरी ओर वे ही बचने का रास्ता निकाल रहे है। भारत ने स्वतन्त्र होने के पश्चात् लोकतन्त्रीय शासन को अपनाया है, जहा प्रत्येक व्यक्ति को समान अधिकार है और प्रत्येक निर्णय बहुमत के आधार पर किया जाता है, किन्तु वास्तव मे देखा जाय तो सत्तारूढ दल द्वारा दूसरे दलो की विशेष चिन्ता नही करना लोकतन्त्रीय भावना के अनुरूप नही कहा जा सकता। आजादी के बाद का हमारा अनुभव यह है कि राज्य-सस्था व्यक्तियो की पारस्परिक समस्याओ को सुलझाने मे सफल नही हो सकी।

व्यक्तियो की आपसी समस्याओ का समाधान करनेवाला दूसरा संगठन समाज है। इसका आधार मुख्यतया सद्भावना तथा परस्पर-निर्भरता है। राज्य-शासन के समान इसमे बाह्य दण्ड का कठोर भय नही होता, वरन् निन्दा एव सामाजिक बहिष्कार का भय अधिक होता है। समाज के सदस्यो की नैतिक तथा आध्यात्मिक मान्यताओ, आजीविका

के साधन, रहन-सहन का ढग, भाषा, वेषभूषा तथा अन्य बातो मे जितनी अधिक समानता होगी, समाज का सघटन उतना ही मजबूत होगा। जहा व्यक्ति अपने उत्थान एव पतन मे परस्पर गुथे हुए हैं, वहा एक के उत्थान का लाभ दूसरो को भी मिलता है। किसी व्यक्ति का यश, उसके पास-पडोस के लिए भी यश है और उसका पतन अथवा अपयश भी उसी प्रकार दूसरो को प्रभावित किये विना नही रहता। इस प्रकार समाज एक परिवार-सा बन जाता है और उसके सदस्यो का पारस्परिक सम्बन्ध भी अत्यन्त दृढ होता है। किन्तु जहा सदस्य पारस्परिक स्वार्थ-पूर्त्ति या इकरारनामे के आधार पर मिलते हैं वहा स्वार्थो मे सघर्ष होते ही सघटन बिखर जाता है। व्यापारियो का सगठन इसी प्रकार का होता है। सगठन का तीसरा प्रकार वह है, जहा एक वर्ग को विवश होकर दूसरे वर्ग का साथी बनना पडता है। यह विवशता मुख्यतया आर्थिक होती है। मज़दूरों और मालिको का सम्बन्ध प्राय इसी प्रकार का होता है। इस सम्बन्ध मे अन्दर-ही-अन्दर असतोष की आग सुलगती रहती है और एक दिन हिंसात्मक विस्फोट के रूप मे प्रकट हो जाती है।

वर्त्तमान मानव को देखा जाय तो वह अनेक समाजो का सदस्य है। उसका व्यक्तित्व सैकडो परस्पर-विरोधी धाराओ मे बिखरा हुआ है। आज का युवक घर मे आने पर एक परिवार का सदस्य है और परिवार के सुख-दु ख, हित-अहित तथा यश एव अपयश मे साझेदार बनना अपना उत्तरदायित्व समझता है, किन्तु बाहर निकलते ही वह एक ऐसे दल का सदस्य बन जाता है जो पारिवारिक जीवन एव सदाचार के लिए सहायक नही है। युद्धकाल में राष्ट्र उसे सेना मे भर्ती होने के लिए आह्वान करता है, परिवार घर मे रहकर कुटुम्ब का पालन-पोषण करने के लिए, धर्म घर-बार छोडकर त्यागी बनने के लिए, विश्वविद्यालय अपना सारा जीवन अनुसधान मे लगा देने के लिए। धर्म का आदेश है कि शत्रु को गले लगाओ; राज्य की आज्ञा है कि उसे सहन न करो। व्यापारिक मनोवृत्ति युद्ध के समय होनेवाली महगाई से पूरा लाभ उठाने की सलाह देती है, जबकि राष्ट्रीयता इसे अपराध मानती है। पारिवारिक आवश्यकताए एक कलर्क

को अपनी रुग्ण पत्नी की दवाई के लिए पाच रुपये रिश्वत लेने के लिए विवश करती है। वह जानता है कि उसकी पत्नी बीमार है और रिश्वत लिये बिना दवा नही खरीदी जा सकती, दूसरी ओर अन्तश्चेतना विरोध करती है। दण्ड का भय भी लगा रहता है। वह नही समझ पाता कि रोग-शय्या पर लेटी हुई पत्नी के प्रति कर्त्तव्य का पालन करे, अथवा सरकार के प्रति। अपने साथियो मे उसे दोनो प्रकार के सलाहकार मिलते हैं। कुछ पत्नी के इलाज की सलाह देते है और रिश्वत न लेने पर उसे बुद्धू बताते है। दूसरी ओर कुछ ऐसे है जो प्राण चले जाने पर भी ईमानदारी की सलाह देते है। एक ओर उत्तरदायित्व है, दूसरी ओर नैतिकता। वह नही समझ पाता कि किसे अपनाया जाय और किसे छोड़ा जाय।

भारत मे अब भी बहुत-सी ऐसी जातिया है जो असामाजिक कार्यों को सामाजिक धर्म मानती है। इस जाति का सदस्य गर्व के साथ उन कार्यों की घोषणा करता है और उसे छोड देने पर उसी प्रकार जातिच्युत होने का भय मानता है जिस प्रकार एक रूढिवादी ब्राह्मण शूद्र का अन्न खा लेने पर। ऐसे व्यक्ति प्राय एक निष्ठा वाले तो होते है, किन्तु उनकी निष्ठा दूसरो के लिए मगलमय नही होती।

समाज के उपर्युक्त दो चित्रो मे से प्रथम चित्र वर्त्तमान मानव का है, जिसके सामने ऐसा कोई तत्त्व नही है, जिसके प्रति एकान्त-निष्ठा रख सके और दुविधा एव अन्तर्द्वन्द्वो से बच सके। दूसरा चित्र उस मानव-समूह का है, जो अब भी प्राचीन परम्परा का समर्थक है, जिसमे नयी चेतना का प्रादुर्भाव नही हुआ। ऐसे मानव मे निष्ठा तो है, किन्तु मगलमयता नही। अन्य समाज उसे अपना शत्रु मानते हैं और वह अन्य समाजो को। दोनो को परस्पर-भय है। राज्य ऐसी जातियो को अपराधी जाति के रूप मे मानता है और कही पर भी चोरी-डकैती होने पर पुलिस उसके सदस्यो को नि सकोच पकड लेती है। उनके आवागमन एव रहन-सहन पर कड़ी निगरानी रखी जाती है, किन्तु उनका अपना समाज अपराध-वृत्ति को रोकने मे किसी प्रकार सहायक नही होता, प्रत्युत उसे प्रोत्साहन ही देता

है। इस प्रकार हम देखते है कि समाज किसी सीमा तक वैयक्तिक अत्याचार को रोकता है तो दूसरे रूप मे उसे प्रोत्साहन भी देता है।

तथाकथित सभ्य समाज मे अधिकतर उस प्रोत्साहन के लिए अत्याचार का रूप बदल दिया जाता है और उसे उद्योग अथवा व्यवसाय मान लिया जाता है। इसके लिए इतना ही पर्याप्त है कि वह राजकीय कानून की दृष्टि से अपराध सिद्ध न हो। कानून के फन्दे से बचकर चाहे कितना ही शोषण एवं अत्याचार किया जाय, उसकी चिन्ता नही की जाती। वह सब वैध मान लिया जाता है। उसे नैतिकता, सदाचार या धर्म के विरुद्ध नही माना जाता। इस प्रकार का अत्याचार करनेवाला भी धर्म का नेता बना रह सकता है, नि:सकोच नैतिकता का उपदेश दे सकता है और सदाचार की डीगें हाक सकता है।

साम्यवाद का सिद्धान्त है कि वैयक्तिक अत्याचार आर्थिक वैषम्य के कारण होते हैं। यदि इस वैषम्य को दूर कर दिया जाय तो चोरी, डकैती, रिश्वतखोरी आदि अपराध समाप्त हो जायें। रूस मे इस सिद्धान्त का प्रयोग किया गया और बहुत अशो तक सफलता भी मिली। हमें यह बात माननी होगी कि आर्थिक विषमता ईर्ष्या-असहिष्णुता आदि को प्रोत्साहन देती है और चोरी-आदि अपराध उनके स्वाभाविक परिणाम है। मुख्य प्रश्न ईर्ष्या-आदि मनोविकारो को दूर करने का है और इनका निराकरण करने के लिए उभयलक्षी प्रयत्न की आवश्यकता है। एक ओर अतृप्ति, ईर्ष्या-आदि को उत्पन्न करनेवाली सामाजिक विषमताओ को दूर करने की आवश्यकता है, और दूसरी ओर हृदय का सस्कार करने की। जिससे धन-सम्पत्ति-सम्बन्धी बाह्य विषमताओ का विशेष महत्त्व न रहे और उनका जीवन पर प्रभाव न पडे। चित्त इतना शान्त एव सुदृढ बन जाय कि वह ईर्ष्या-आदि का शिकार न बने। अनुकूल तथा प्रतिकूल, सम एव विषम, प्रत्येक परिस्थिति मे शान्त रह सके। यह कार्य धर्म के द्वारा ही हो सकता है और वह तभी, जब मनुष्य किसी उच्च सत्ता मे विश्वास करने लगे और उसकी तुलना मे धन-सम्पत्ति आदि को महत्त्वहीन समझे। सामा-

जिक ढाचे को वदलने से समस्या का समाधान नही हो सकता। मानव-हृदय वहुत वार अपने समकक्ष से भी ईर्ष्या करता है। दूसरो पर अत्याचार करके अपने अहकार का पोषण करना चाहता है। ऐसी स्थिति में धर्म ही एकमात्र मार्ग है। वह अन्तश्चेतना का परिष्कार करता है। परिणाम-स्वरूप कामनाए, ईर्ष्या-भाव तथा अन्य मनोविकार शान्त हो जाते हैं।

अत्याचार का दूसरा रूप दलवद्ध आक्रमण है। यह दुर्वल राष्ट्रों पर प्रवल राष्ट्रो द्वारा प्राचीन काल से होता आ रहा है। इसकी भीषणता उत्त-रोत्तर वढती जा रही है। वर्त्तमान युग मे अणुशक्ति के आविष्कार ने इसे इतना भयानक वना दिया है कि सारी मानवता खतरे मे पड गई है। हिरो-शिमा और नागासाकी पर जिन अणुवमो का प्रयोग हुआ, नये बम उनकी अपेक्षा हज़ारो-गुने अधिक शक्तिशाली है। उनके प्रयोग की कल्पना से ही विश्व काप उठा है। इन सघर्षो को रोकने के लिए राष्ट्र-सघ आदि सस्थाए वनी, उन्होने अन्तर्राष्ट्रीय कानून भी वनाये, किन्तु समय आने पर उनका पालन नही किया जाता। ऐसे सघर्षो से वचने और अणुबम के भय को दूर करने का एक ही उपाय है और वह यह है कि राष्ट्रीयता की भौगोलिक परिधियो को तोड दिया जाय। प्रत्येक मानव विश्व-मानव वन जाय, परस्पर-व्यवहार में अपने और पराये राष्ट्र के रूप मे सोचना वन्द कर दे। सकुचित मानव को विश्व-मानव वनाने का कार्य धर्म ही कर सकता है। वही उसका ध्यान कल्पित परिधियो से हटाकर शाश्वत एव व्यापक तत्त्व की ओर ले जा सकता है।

मानव और मानव मे परस्पर-सघर्ष का अन्य रूप उत्पीडन है। जहा तक एक व्यक्ति या वर्ग, दूसरे व्यक्ति या वर्ग का अपने स्वार्थो की पूर्त्ति के लिए शोषण करता है, वहा शोषित वर्ग पर कोई शारीरिक वन्धन नही होता। वह चाहे तो स्वतन्त्र हो सकता है, किन्तु आर्थिक वन्धन इतना विकट होता है कि उसे विवश होकर शिकजे मे फसना पड़ता है।

रूस ने सर्वप्रथम इस समस्या को व्यापक रूप मे राष्ट्रीय स्तर पर सुलझाने का प्रयत्न किया। उसने धनोपार्जन के साधनो पर व्यक्तिगत

आधिपत्य को समाप्त कर दिया। काम करनेवाले स्वय मालिक वन गए। परिणामस्वरूप दो वर्ग ही न रहे। सभी को समान अधिकार मिल गया। इससे वहुत अशो तक समस्या का समाधान हुआ किन्तु फिर भी यह सत्य है कि राजकीय कानून सभी समस्याओं को नही निपटा सकते।

रेलगाडी मे यात्रा करते समय सभी यात्रियो को समान रूप से बैठने का अधिकार है, कानून किसी प्रकार के वैषम्य को स्वीकार नही करता, फिर भी एक यात्री पैर पसारकर लेटा रहता है और दूसरे को बैठने के लिए भी जगह नही मिलती। खडे रहनेवाले यात्री के पास कानूनी अधिकार होने पर भी वह उसका प्रयोग नही कर पाता। इसके कई कारण हो सकते है। वह शारीरिक दृष्टि से दुर्बल है अथवा स्वभावत. शान्तिप्रिय है और झगडा नही करना चाहता, किन्तु इतने मात्र से उसके बैठने के अधिकार से वचित होने का समर्थन नही किया जा सकता। यह भी एक तथ्य है कि परस्पर-व्यवहार मे पद-पद पर पुलिस या न्यायालय का आश्रय लेना सम्भव नही है। यदि ऐसा किया जाय तो जीना कठिन हो जाय।

ऐसी स्थिति मे एक ही मार्ग है, वह यह कि प्रत्येक व्यक्ति मे ऐसी भावना उत्पन्न हो कि दूसरे का अधिकार छीनते समय उसकी अन्तरात्मा को आघात लगे। हमारा प्राचीन इतिहास इस प्रकार का रहा है, जहां दूसरे का अधिकार छीनने मे अहकार का पोषण होता रहा है। परिणाम-स्वरूप हमारी यह आदत पड गई है कि दूसरे का अधिकार छीनते समय किसी प्रकार की झिझक नही होती, प्रत्युत ऐसा करके हम अपनेको दूसरे की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली तथा उच्च समझते हैं। समस्त विश्व मे वीर-गाथा का इतिहास इसी प्रकार का रहा है, जहा दूसरे का स्वत्व छीननेवालो की ही प्रशसा की गई है और कवियो ने उसकी स्तुति में अपनी कला का प्रदर्शन किया है। अस्मिता के इस रूप को वदलने की आवश्यकता है। इस प्रकार के सस्कार उत्पन्न करने की आवश्यकता है कि व्यक्ति अधिकार-प्राप्ति के आधार पर नही, वरन् कर्त्तव्य के आधार पर आत्म-गौरव का अनुभव करे। अपने अधिकार का परित्याग करके भी दूसरे को सुखी वनाने मे महत्ता का अनुभव करे।

यहा यह प्रश्न उपस्थित होता है कि धर्म केवल भावना उत्पन्न कर सकता है। जब तक व्यक्ति पर राज-दण्ड या समाज-दण्ड का अकुश न हो, तबतक वह अपने स्वार्थों को क्यो छोडेगा ? इसके उत्तर मे हम कह सकते है कि भावना का मानव-जीवन मे बहुत बडा स्थान है। उसके लिए मानव ने बडे-से-बडे स्वार्थो का बलिदान किया है तथा भयंकर कष्टो का सामना किया है। इतिहास इसका साक्षी है। पारिवारिक जीवन मे भाई-बहिन, माता-पिता आदि मे परस्पर जो पवित्र दृष्टि आई है—जहा एक व्यक्ति स्वय भूखा रहकर भी दूसरे का पेट भरने के लिए तैयार रहता है, स्वय सर्दी मे ठिठुरकर भी अपने प्रिय को कम्बल से ढक देता है, यह सब भावना का ही कार्य है। भूखो मरने का अवसर आने पर भी स्वाभिमानी व्यक्ति को दूसरे के सामने हाथ पसारते हुए लज्जा आती है। साधारणतया मानव दूसरे पर अत्याचार करते समय भी किसी आड़ का सहारा लेता है और जिसपर अत्याचार करना चाहता है उसपर सच्चा-झूठा अपराध लगाता है। भेडिये और मेमने की कथा प्रसिद्ध है। भेड़िया उसे मारना चाहता था, किन्तु दोषी ठहराये विना ऐसा न कर सका। इन सब उदाहरणो से यही सिद्ध होता है कि भावना समाज को बदल सकती है और शोषण को दूर कर सकती है। किन्तु हमें अपनी अस्मिता, गौरव, सामाजिक उच्चता आदि के मापदण्ड बदलने होगे। जबतक धन बडप्पन का चिह्न है, तबतक उचित एव अनुचित सभी उपायों द्वारा उसका सग्रह होना स्वाभाविक है। इसी प्रकार राजसत्ता अथवा अन्य तत्त्वो के लिए भी कहा जा सकता है। इनके स्थान पर यदि त्याग अथवा कर्त्तव्य-पालन को बडप्पन का लक्षण स्वीकार कर लिया जाय, तो व्यक्ति का झुकाव फिर उसी ओर हो सकता है। भारत मे त्यागियो को सर्वोच्च स्थान मिलता रहा है और अब भी वह शिष्टाचार के रूप मे विद्यमान है, किन्तु उसमे वास्तविकता नही रही। उस मनोवृत्ति की पुन प्राण-प्रतिष्ठा होनी चाहिए, तभी समस्याए सुलझ सकती हैं।

भारत की प्राचीन वर्ण-व्यवस्था भी कर्त्तव्यपालन पर आधारित थी। प्रत्येक वर्ण के लिए अपने-अपने कर्त्तव्य का पालन धर्म था, और

: ५ :

मूल्यांकन का आधार

हमने देखा कि सुखपूर्वक जीने की इच्छा ने मनुष्य को किस प्रकार दलदल मे फसा दिया है। विविध आकर्पणो एव प्रलोभनो मे पडकर वह निर्णय नही कर पा रहा है कि क्या करे और क्या न करे। उसने कुल, परिवार, भूमि, धन, सम्पत्ति, जातीयता और धर्म आदि सभीके लिए सघर्ष किये, युद्ध किये और दूसरो का दमन किया। कवियो ने उसके गीत गाये, उसके लिए शहनाई वजी और सैनिक स्वागत हुआ। उसे ऊचे सिहासन पर बैठाया गया और वह अपनेको सर्व-नियन्ता मानने लगा। उसने अपने प्रत्येक कार्य को ठीक समझा, किन्तु समस्याओ का समाधान न हुआ। दूसरे ही क्षण उसने देखा कि एक वर्ग हँस रहा है तो दूसरा रो रहा है। किसीको शान्ति न मिली। उसे अपनी जीत भी हार मालूम पड़ने लगी। उसकी समझ मे नही आया कि वह किस लक्ष्य को लेकर चले।

अमरीका, रूस तथा अन्य राष्ट्र शत्रु का सामना करने के लिए अणु-अस्त्रो से सम्पन्न हो रहे है। उनका समय-समय पर परीक्षण भी कर रहे है। इन विस्फोटो के परिणामस्वरूप विश्व की वहुसख्यक जनता का स्वास्थ्य खतरे मे पड़ गया है। इतना ही नही, वे विश्व के कोने-कोने मे अपने आणविक अड्डे वनाना चाहते है जहा से किसी द्वीप अथवा प्रदेश पर आक्रमण किया जा सके और कोई भी भू-भाग अप्राप्य न रहे। तटस्थ वैज्ञानिको का कथन है कि यदि अणु-युद्ध हुआ, तो मानव और मानवीय सभ्यता भूतल पर से मिट जायगी।

अमरीका ने गत महायुद्ध के अन्त मे हिरोशिमा और नागासाकी पर अणु-वम गिराये, जिसके परिणामस्वरूप लाखो निरीह व्यक्ति मारे

गए। उनमे वे स्त्रिया, वच्चे और साधारण नागरिक भी है, जिनका युद्ध से कोई सम्वन्ध नही था। यह भी कहा जाता है—और ब्रिटेन के तत्कालीन प्रधान मत्री चर्चिल ने स्वीकार किया है—कि जापानी सैनिक अणु-विस्फोट से पहले ही हथियार डालने को तैयार थे, किन्तु उनके सामने यह प्रस्ताव रखा गया कि वे अपने सम्राट् को युद्धवन्दी के रूप मे सौप दे, जिससे उनपर अभियोग लगाया जाय और उन्हें दण्डित किया जाय। स्वाभिमानी जापानियो को यह वात वहुत वुरी लगी। वे अपने राष्ट्रीय अपमान को न सह सके और मर-मिटने को तैयार हो गए।

हमे यह देखना है कि उपर्युक्त घटनाचक्र मे कौन-सी मनोवृत्ति कार्य कर रही है। व्यक्ति किस वात को अधिक महत्त्व दे रहा है। ऐसा कौन-सा तत्त्व है, जिसकी रक्षा के लिए इस सर्वनाश को आमन्त्रित कर रहा है। सर्वप्रथम हम अमरीका के मानस का अध्ययन करें।

अमरीका या कोई राष्ट्र अपने-आप मे इकाई नही है। वह वहुत-से विशाल जनसख्यावाले प्रदेशो का समूह है, जिन्हें कुछ झूठी अस्मिताएं, राजकीय नियम तथा मिथ्या प्रचार किसी कल्पित इकाई मे वाधे रखने का प्रयत्न करते रहते है। पन्द्रह वर्ष पहले भारतवर्ष और पाकिस्तान दोनो एक मिश्रित इकाई थे। पश्चिमी पजाव, उत्तरी सीमाप्रान्त, सिन्ध तथा पूर्वी वगाल के हजारो व्यक्तियो ने भारतीय स्वाधीनता के लिए अथक सघर्ष किया और अपनी आहुतिया दी। आज वहा के निवासी भारत को अपना सवसे वडा शत्रु मानते हैं। अमरीका के निवासी एक भौगोलिक परिधि के अन्दर वसे हुए लोगो को अपना मित्र मानते है और दूसरी परिधि-वालो को अपना विरोधी। आज पूर्वी तथा पश्चिमी र्वलिन के मध्य सीमा-रेखा पर, जहा अमरीकी तथा रूसी सैनिक दस्ते और टैंक एक-दूसरे के सम्मुख खडे है, और किसी भी समय आक्रमण के लिए तत्पर हैं, ऐसे दृश्य की कल्पना से ही रोमाच हो आता है। अमरीका के शासक जिस प्रकार अमरीकी जनता के जीने के अधिकार को स्वीकार करते हैं, उसी प्रकार हिरोशिमा और नागासाकी के अधिकार को क्यो नही मानते?

आइजनहावर ने राष्ट्रपति-पद से अपनी एक घोषणा मे कहा था, "विश्व मे कही भी अत्याचार अथवा अन्याय हो रहा है, तो उसे दूर करना हम अपना उत्तरदायित्व समझते है।" क्या अमरीका निरीह जनता पर बम गिराकर ही अपने उत्तरदायित्व का पालन करना चाहता है ?

इस प्रकार की मनोवृत्ति का कोई भी ठोस एवं न्यायसगत आधार नहीं बताया जा सकता। यह केवल मनुष्य की अपनी अस्मिता है, जो भेद-बुद्धि तथा हिटलर-जैसे तानाशाहो को जन्म देती है। जहातक अमरीकी जनता का प्रश्न है वह भी अन्य राष्ट्रो की जनता के समान ही जीना चाहती है। अणु-युद्ध से बचने के लिए वह भी उन्हीकी भाति चिन्तित है, किन्तु प्रतिरक्षा का नाम लेकर उसे जबरदस्ती इस आग मे झोका जा रहा है। ऐसा करनेवाला तत्त्व है राजनीतिज्ञो का एक दल, जो सर्वप्रथम स्वय ही समस्त मानवता के लिए भय उत्पन्न करता है, और फिर उसका निवारक एव राष्ट्र-रक्षक होने का ढोग रचता है। उसने मिथ्याभिमान के लिए और अपना प्रभुत्व बनाये रखने के लिए सारी मानवता की सुरक्षा को दाव पर लगा दिया है।

रोम के बादशाह नीरो को एक शौक था। वह किसीके हाहाकार, क्रन्दन अथवा विनाश को देखकर अट्टहास किया करता था। कहा जाता है कि जब सारा रोम जल रहा था, वह आराम से बैठा बासुरी बजा रहा था। कूटनीतिज्ञो की उपर्युक्त मनोवृत्ति भी क्या इसी प्रकार की नही है ? अमरीका के कर्णधार अपनी अणु-युद्ध की इस भीषण तैयारी का कोई ऐसा उद्देश्य नही बता सकते, जो विश्व के लिए या स्वय अमरीकी जनता के लिए मगलमय हो। उनका कहना है कि साम्यवाद के प्रचार एवं आक्रमण से बचने के लिए वह ऐसा कर रहे हैं। यदि उनकी बात स्वीकार भी कर ली जाय और यह मान लिया जाय कि रूस साम्यवाद का प्रचार सारे विश्व मे करना चाहता है, तो क्या साम्यवाद सर्वनाश से भी बुरा है ? रूस की जनता जिस प्रकार का जीवन-यापन कर रही है, क्या मर जाना उससे अच्छा है ? हम यह जानते हैं कि अमरीका विश्व का सर्वाधिक सम्पन्न

देश है और अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए आत्मनिर्भर है। वहा की जनता सामान्यत सुखी है। फिर साम्यवाद के अमरीका मे प्रसार का भय क्यो ? विचार करने पर ज्ञात होता है, केवल अपना प्रभुत्व वनाये रखने के लिए अमरीकी अधिकारी कल्पित भय की सृष्टि एव उसका प्रचार करते रहते है।

प्राचीन इतिहास को देखने से पता चलता है कि अहकार-वृत्ति मानवीय दु खो का वहुत वडा कारण रही है। इससे प्रभावित होकर एक मानव ने दूसरे मानव को, एक समाज ने दूसरे समाज को तथा एक राज्य ने दूसरे राज्य को अपना शत्रु वनाया। वही अहकार-वृत्ति जव धर्म के क्षेत्र मे आई तो उसने धर्म का गला घोट दिया। जवतक राष्ट्रीय मिथ्या-भिमान व्यक्ति के मूल्याकन का आधार वना हुआ है, तवतक अन्तर्राष्ट्रीय समस्याए नही सुलझ सकती। मूल्याकन का आधार ऐसा तत्त्व रखना होगा, जो देश और काल की सीमा से परे हो, जिसकी पूर्ति के लिए दूसरे की हत्या या शोषण की आवश्यकता न हो, प्रत्युत जो सभीके लिए मगलमय हो। व्यक्ति ज्यो-ज्यो उसकी ओर वढेगा, उसके सुख और शाति मे वृद्धि होगी।

भारत एव यूरोप का प्राचीन इतिहास धर्म के नाम पर किये जाने वाले युद्धो से भरा है। विश्ववन्धुत्व का उपदेश देनेवाले ईसाइयो ने सैकडो वर्षो तक यहूदियो के साथ युद्ध किया और उन्हें जेरुसलम से मार भगाया। इसे वे 'क्रूसेड' या धर्म-युद्ध कहते हैं और अपने वच्चो को उसकी कहानिया सुनाकर गर्व का अनुभव करते हैं। समस्त मानवता को खुदा के वन्दे मानने वाले मुसलमानो ने ईसाइयो के विरुद्ध जिहाद किया, और हजारो को मौत के घाट उतार दिया। भारत मे इस प्रकार के युद्ध व्यापक रूप से तो नही हुए, किन्तु धर्माचार्यो के परस्पर शास्त्रार्थ और सघर्ष चलते ही रहे है। उनमे शारीरिक दण्ड का प्रयोग भी पर्याप्त मात्रा में हुआ है। स्वभावत यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या धर्म को अपने प्रचार के लिए युद्ध, अर्थात्

अधर्म, की आवश्यकता है ? क्या अहिंसा के प्रचार के लिए हिंसा की शरण लेनी होगी ? इसका अर्थ है दैवी सम्पत्ति का आसुरी सम्पत्ति की शरण मे जाना और विजय का नाम देकर हार को स्वीकार करना ।

वास्तव मे देखा जाय तो इन युद्धो को धर्म के लिए नही, वरन् धर्म का नाम लेकर अपनी अस्मिता अथवा अहकार के पोषण के लिए लड़ा गया ।

विश्व के इतिहास मे जो युद्ध अथवा अत्याचार स्पष्टतया स्वार्थबुद्धि से किये गए, उन्हे सभीने बुरा बताया है। उन्हे प्रत्येक सभ्य जाति तथा राष्ट्र ने हेय माना है। किन्तु जब उन्होने धर्म, राष्ट्रीयता, जातीयता, स्वाभिमान या किसी ऐसे अन्य तत्त्व की आड़ ले ली, तो वे ही उपादेय प्रतीत होने लगे। हिंसा अहिंसा के आवरण मे ताण्डव करने लगी। परिणाम-स्वरूप मानव की अन्तश्चेतना कुण्ठित हो गई। पाप-वृत्ति के विरुद्ध अन्दर से उठनेवाली आवाज वन्द हो गई। इस प्रकार हम देखते है कि धर्म के नाम से जितना अधर्म हुआ है, अथवा अहिंसा के नाम से जितनी हिंसा हुई है, उतनी अधर्म या हिंसा के मिले-जुले रूप मे नही हुई। जब दानव देव का रूप लेकर हमारे सामने आता है और दैवी शब्दो द्वारा हमारी चेतना को उभारता है, तब विवेक करना कठिन हो जाता है।

महावीर के जीवन की एक घटना है। जब वह तपस्या कर रहे थे, देवराज इन्द्र उनके पास आये और कहने लगे—"भगवन्, आप इतना कष्ट क्यो कर रहे है ? मै अपने वज्र के बल से सारे ससार को आपका अनुयायी वना देता हू। सभी आपके चरणो पर नतमस्तक हो जायंगे ।"

भगवान् महावीर ने उत्तर दिया, "अहिंसा मे स्वय इतनी शक्ति है कि उसे हिंसा का सहारा लेने की आवश्यकता नही है।" हिंसा का सहारा लेनेवाली अहिंसा अहिंसा नही रह जाती। भगवान् बुद्ध और महात्मा गाधी के सामने भी कई वार इस प्रकार के प्रश्न उपस्थित हुए, किन्तु उन्होने कभी हिंसा, असत्य अथवा अधर्म का आश्रय नही लिया।

भगवान् बुद्ध ने अपने भिक्षुओ को सन्देश दिया था—"हे भिक्षुओ, ऐसी चर्या का पालन करो, जो आदि मे मगल हो, मध्य मे मगल हो और अन्त मे भी मगल हो। जो अपने लिए भी मगल हो और दूसरे के लिए भी।" यही मूल्याकन का सर्वोच्च आधार है। जैन-आगम 'दशवैकालिक' मे धर्म को उत्कृष्ट मगल बताया है। वह ऐसा लक्ष्य है, जिसे सामने रखकर चलने पर कही भ्रान्ति नही होती।

साधारण समाज मे जीवन के जो प्रेरक तत्त्व हैं, उन्हे दो भागो मे बाटा जा सकता है : १. सुखैषणा और २. लोकैषणा

प्रत्येक व्यक्ति सुख चाहता है और सम्मान चाहता है। सुख दो प्रकार का है. दु ख का अभाव और कामनाओ की पूर्ति। भूखे को भोजन मिलना, रोगी का रोग दूर होना, प्यासे को पानी मिलना आदि ऐसे सुख है जो कष्ट के अभाव-रूप हैं। इन सुखो को चाहनेवाला व्यक्ति, यदि भावना अशुद्ध न हो, तो दूसरो के सुख मे बाधक नही बनता। सरल हृदय का रोगी चाहता है कि सभी रोग से मुक्त हो। सरल हृदय का भूखा चाहता है कि सभीकी भूख मिटे और प्यासा सभीकी प्यास बुझती देखना चाहता है। इस प्रकार जबतक उसमे स्व-पर-समता की बुद्धि रहती है, तबतक वह मगलमय है। यदि वह दूसरे को भूखा रखकर अपना पेट भरना चाहता है, दूसरे के रक्त से अपनी रक्तहीनता दूर करना चाहता है तो वही अमंगल बन जाता है। इसका अर्थ है कि मगल और अमगल का आधार क्रमश: हमारी साम्य और वैषम्य-बुद्धि है। जीवन मे ज्यो-ज्यो समता की वृद्धि होगी और वैषम्य घटेगा, वह अमगल से मगलमय बनता जायगा।

सुख का दूसरा रूप कामनाओ की पूर्त्ति है। व्यक्ति धन, राज्य, प्रभुता आदि का भूखा है और इनकी पूर्ति होने पर सुख का अनुभव करता है, किन्तु यह पूर्ति वैषम्य के विना नही हो सकती। दूसरे का स्वत्व छीनकर ही हम धन का सग्रह कर सकते हैं। दूसरे को अपने अधीन करके ही राज्य स्थापित कर सकते हैं। अत: इन भौतिक कामनाओ की पूर्त्ति से होनेवाला सुख मगलमय नही है। इसे मूल्यांकन का आधार नही बनाया जा सकता।

व्यक्ति बहुत-से कार्य यश की कामना से अथवा समाज मे प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए करता है । बहुत से तत्त्व-चिन्तक कीर्ति को ही जीवन का लक्ष्य मानते हैं। कीर्ति दूसरे का उपकार करके, दूसरे को सुख पहुंचाकर अथवा अन्य कोई भला कार्य करके ही प्राप्त की जा सकती है। अतः स्थूल दृष्टि से देखा जाय तो यह अमगल नही है; किन्तु अधिकतर देखा गया है कि व्यक्ति कीर्ति या लोकैषणा का आधार मिथ्याभिमान अथवा अहकार को बना लेता है। अहकार का पोषण करने के लिए दो मार्ग अपनाये जाते है :

१. अपने गुणो का विकास करना; तथा

२. दूसरे को नीचा दिखाना। दूसरा रूप स्पष्टतया अमगल है। पहले रूप के पुन. दो प्रकार है·

१. ऐसे गुणो का विकास करना, जिससे सभी को सुख पहुचे; तथा,

२. धन-सम्पत्ति आदि का सग्रह करना ।

प्रथम प्रकार का अर्थ है आध्यात्मिक गुणो का विकास। यह पूर्णतया मगलमय है और यही मूल्याकन का सही आधार है। दूसरा प्रकार, अर्थात् धन-सम्पत्ति आदि का सग्रह वैषम्य, शोषण अथवा पर-पीडन पर अवलम्बित है। उससे वैयक्तिक अस्मिता की तृप्ति भले ही हो, किन्तु वह मगलमय नही हैं। अस्मिता किसी प्रकार की हो, उसका आधार धन हो, साम्प्रदायिकता हो, राष्ट्रीयता हो या कोई अन्य तत्त्व हो, वह वैषम्य-बुद्धि को जन्म देती है। अत. उसका कोई भी रूप व्यक्ति के सही मूल्यांकन का आधार नही बन सकता ।

मूल्याकन का दूसरा आधार निरपेक्षिता है। इसके दो अर्थ है। पहला अर्थ है सर्वातिशायिता। जिस वस्तु का महत्त्व सर्वोपरि है, जिसके लिए सबकुछ है पर जो स्वय किसीके लिए नही है, उसे ही मूल्याकन का आधार बनाया जा सकता है। धन, प्रतिष्ठा तथा अन्य बातो को महत्त्व इसलिए देते हैं कि वे हमे तृप्त करती है। वे हमारे लिए हैं, हम उनके लिए नही है। यदि वे ही दु ख का कारण बन जाय तो हम उन्हें छोड़ने के लिए

तैयार हो जायगे। उनका मूल्याकन हमारी अपेक्षा से है, वह निरपेक्ष नही है। अव यह प्रश्न होता है कि 'हम' क्या है? व्यक्तित्व का विश्लेषण करते समय इसका कुछ विवेचन किया गया है। धन, प्रतिष्ठा, शरीर, मन, इन्द्रिया, बुद्धि और आत्मा सभी 'हम' के अन्तर्गत है। फिर भी मूल्याकन की दृष्टि से उनमे तारतम्य है। धन की अपेक्षा शरीर का अधिक महत्त्व है। कोई व्यक्ति जानबूझकर धन के लिए शरीर का परित्याग नही करना चाहता। सामाजिक प्रतिष्ठा का सम्बन्ध मन से है। उससे हमारे अहकार-रूपी मन की तृप्ति होती है। शरीर की अपेक्षा उसका स्थान उच्च है। अतएव प्रतिष्ठा को महत्त्व देनेवाले व्यक्ति शरीर का परित्याग करके भी उसकी रक्षा करना चाहते है। धन को महत्त्व देनेवाले की अपेक्षा, प्रतिष्ठा को महत्त्व देनेवाला अच्छा माना जाता है, क्योकि धनवाला जितना वहिर्मुखी और पराश्रित है, उतना प्रतिष्ठा को महत्त्व देनेवाला नही है—किन्तु यह प्रतिष्ठा आन्तरिक गुणो के आधार पर हो। बहुत-से व्यक्ति इन्द्रियो की तृप्ति के लिए शारीरिक स्वास्थ्य की परवाह नही करते। इसका अर्थ यह है कि शरीर की अपेक्षा इन्द्रिया अधिक सूक्ष्म है और अधिक महत्त्व रखती है। इन्द्रियो की अपेक्षा मन अधिक महत्त्व रखता है। मानव को इच्छाओ का दास माना जाता है। मन की अपेक्षा बुद्धि का अधिक महत्त्व है। किसी व्यक्ति के सामने स्वादिष्ट भोजन रख दिया जाय, साथ ही यह भी कह दिया जाय कि इसमे विप मिला हुआ है, तो उसे वह नही खायगा। इन्द्रिया और मन खाने की ओर झुके हुए है, किन्तु बुद्धि हिताहित का विवेक करके रोक रही है। बुद्धि से भी परे कोई तत्त्व है, जो उसको प्रेरित करता है। हम उसका प्रत्यक्ष नही कर पाते, फिर भी अस्तित्व का अनुभव अवश्य करते है। गाढ निद्रा मे सोते समय इन्द्रिया, मन, बुद्धि आदि कार्य नही करते, फिर भी अनुभूति रह जाती है। उसी शुद्ध अनुभूति का नाम चैतन्य या आत्मा है। उसके सामने बुद्धि भी नगण्य है।

मनोविज्ञान की परिभाषा मे मानस की तीन क्रियाए है जानना, इच्छा करना और अनुभव करना। इच्छा करना मन का काम है, जानना

बुद्धि का और उसे अनुभव करना आत्मा का। वर्त्तमान मनोविज्ञान हमारी चेतना या मन को तीन स्तरो मे विभक्त करता है : चेतन मन, अवचेनन मन और अधिचेतन मन। जागृत अवस्था मे चेतन मन काम करता है। अवचेतन मन संस्कारो का पुज है जिसमे से समय-समय पर राग, द्वेष, घृणा, प्रेम, अहकार आदि चेतन मन के रूप मे प्रकट होते रहते हैं। स्वप्नावस्था मे भी अवचेतन मन ही काम करता है। अधिचेतन मन उन सबका आधार है। मूल्याकन एव जीवन-विकास की दृष्टि से चेतन की अपेक्षा अवचेतन का अधिक महत्त्व है और अवचेतन की अपेक्षा अधिचेतन का। समाज तथा राजकीय व्यवस्थाए चेतन मन को प्रभावित करती है। धर्म-सस्था का कार्य मुख्यतया अवचेतन मन का परिष्कार है, जहा भावनाओ एव जमे हुए सस्कारो को हटाया जाता है। अवचेतन मन का परिप्कार होने पर आत्मा शुद्ध हो जाता है और अपने वास्तविक रूप अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख तथा अनन्त शक्ति को प्राप्त कर लेता है। मूल्याकन का चरम लक्ष्य भी आत्मा द्वारा अपने शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति ही है। जो कार्य उस प्राप्ति के लिए उपकारक है वे सभी उपादेय है, और जो उसके विपरीत अशुद्धि की ओर ले जाते है, वे सभी हेय है।

निरपेक्षता का दूसरा अर्थ सार्वत्रिकता है। अर्थात् जो कार्य या वस्तु प्रत्येक परिस्थिति में उपादेय है, उसे मूल्याकन का आधार बनाया जा सकता है। इस सार्वत्रिकता को हम पाच भागो मे बाट सकते है—

१ व्यक्ति-निरपेक्षता—उपयोगिता के लिए व्यक्ति-विशेष की अपेक्षा का न होना। जो कार्य किसी एक व्यक्ति के लिए उपयोगी और दूसरे के लिए अनुपयोगी या हानिकर है, तो वह मूल्याकन का आधार नही वन सकता। धन-सग्रह शोषक की दृष्टि से उपादेय है, किन्तु शोषित की दृष्टि से हेय। इसी प्रकार अहकार एव अन्य बातो के लिए भी समझ लेना चाहिए। हिंसा हिंसक को सुख पहुचाती है, किन्तु हिंस्य को कष्ट देती है। अत इसकी उपादेयता व्यक्ति-निरपेक्ष नही है।

२. जाति-निरपेक्षता—विश्व के इतिहास मे जातियो एव राष्ट्रों के परस्पर युद्ध होते रहे हैं। उनमे यह देखा गया है कि एक जाति अपने लिए मूल्याकन का जो आधार बनाती है उसे दूसरी जाति के लिए स्वीकार नही करती। यहूदी, मुसलमान, ईसाई, वैदिक आर्य आदि जातियो का निजी क्षेत्र मे जो सम्वन्ध रहा है, इतर जाति के साथ वह नही था। अपनी जाति के लिए प्रेम, परस्पर सद्भाव तथा भ्रातृत्व को आवश्यक माना गया, जबकि दूसरो के लिए शत्रुता, हिंसा तथा अत्याचार को। प्राचीन यहूदियो मे जातीय सीमा के अन्तर्गत परस्पर सद्भाव, स्त्रियो का सम्मान तथा अन्य सदाचार को धर्म माना गया, किन्तु उस सीमा से वाहर दुराचार, वलात्कार तथा लूट को कर्त्तव्य बताया गया। इस प्रकार हम देखते है कि जातीय अपेक्षा से मूल्याकन का जो आधार बनाया गया, वह विश्व के लिए मगलमय सिद्ध नही हुआ।

३. देश-निरपेक्षता—इसका अर्थ है कि मूल्याकन का आधार कोई भौगोलिक परिधि नही होनी चाहिए। वर्तमान राष्ट्र अपने लिए जिस बात को उचित मानते हैं, उसे दूसरे राष्ट्र के लिए स्वीकार नही करते। वे अपनी भौगोलिक सीमा के अन्तर्गत नागरिको को सुखी एव समृद्ध देखना चाहते हैं, वाहरवालो को इसके विपरीत। इस मनोभावना का भयकर परिणाम हमारे सामने है। राष्ट्रो के परस्पर-विद्वेष ने ही महायुद्धो एवं प्रलयकर आणविक अस्त्रो को जन्म दिया है; और यदि प्रयोग करने वाले राष्ट्रो को अपने अस्तित्वहीन हो जाने का भय न होता, तो उनका व्यापक रूप से प्रयोग हो गया होता।

४. काल-निरपेक्षता—जो वात एक युग मे उपादेय और दूसरे मे अनुपादेय है, वह भी मूल्याकन का शाश्वत आधार नहीं वन सकती। हम लोग तात्कालिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए वहुत-से मार्गों को अपनाते है। वे कुछ काल के लिए उपयोगी होने पर भी मूल्याकन का आधार नही वन सकते।

५. परिस्थिति-निरपेक्षता—वहुत-से कार्य परिस्थिति को देखकर

करने पडते है, फिर भी वे प्रत्येक परिस्थिति मे उपादेय नही होते ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जो बात स्व एवं पर दोनों के लिए हितकर है, सार्वत्रिक है और सर्वकालीन है, वही मूल्याकन का आधार बन सकती है ।

अब हमारे सामने यह प्रश्न आता है कि ऐसे तत्त्व कौन-से है, जो मूल्याकन की इस कसौटी पर ठीक उतरते हो ? जो हमारे जीवन का लक्ष्य बन सके ? इसके लिए हमे अपनी कामनाओ एव इच्छाओ का विश्लेषण करना होगा । हम सुखी बनना चाहते है, शक्तिशाली बनना चाहते हैं और अपने अज्ञान को दूर करना चाहते है। किसी छोटे बालक का निरीक्षण करने पर ये बाते सामने आ जाती हैं। बालक प्रत्येक बात के रहस्य को जानना चाहता है । इसीलिए निरन्तर प्रश्न पूछता रहता है। उसमे जिज्ञासा-वृत्ति उतनी ही प्रबल होती है, जितनी भूख और प्यास । वह घण्टो बाह्य जगत् को देखता रहता है और इस पर्यवेक्षण के आनन्द मे अपने-आप को भूल जाता है। वह शक्तिशाली भी बनना चाहता है और उसके लिए चिन्तित रहता है। साथ ही वह सुखी होना चाहता है। ये तीनों इच्छाए प्रत्येक प्राणी मे स्वाभाविक हैं। यह बात दूसरी है कि किसी मे ज्ञान की इच्छा बलवती होती है, किसीमे सुख की और किसीमे शक्तिशाली बनने की । एक इच्छा के प्रबल होने पर दूसरी इच्छा निर्बल हो जाती है, और बहुत बार प्रबल इच्छा की पूर्ति के लिए निर्बल इच्छा का बलिदान भी कर दिया जाता है ।

इन इच्छाओ की पूर्ति के लिए दो प्रकार के प्रयत्न दृष्टिगोचर होते हैं। साधारण लोग इनकी पूर्त्ति के लिए बाह्य वस्तुओ की ओर दौड़ते है और समझते है कि उन्हे प्राप्त कर लेने पर ये कामनाए तृप्त हो जायगी। दूसरा प्रयत्न उन लोगो का है जो यह मानते है कि ज्ञान, सुख और शान्ति का सर्वोच्च केन्द्र अपने अन्दर है। इनके लिए बाहर भटकने की आवश्यकता नहीं है। इसी केन्द्र को परमात्मा, ईश्वर या ब्रह्म आदि शब्दो से कहा जाता है। उदाहरण के रूप मे एक व्यक्ति शक्ति प्राप्त करना चाहता

है और उसके लिए विविध उपाय करता है। वह जनमत का सग्रह करके राजनीतिक शक्ति प्राप्त करता है तथा शस्त्र-अस्त्रो का निर्माण करके सैनिक शक्ति। दूसरा व्यक्ति यह अनुभव करता है कि इस प्रकार से जो शक्ति प्राप्त की जाती है, वह वास्तविक शक्ति नही है। उसकी दृष्टि मे शक्तिशाली होने का अर्थ है निर्भयता। एक सैनिक अपने बचाव अथवा शत्रु पर आक्रमण के लिए जितनी युद्ध-सामग्री बढाता जाता है, उतनी ही उसके भय मे वृद्धि होती जाती है। वह भय से कभी भी मुक्त नही हो पाता। अमरीका तथा अणुशक्तिवाले राष्ट्रो का उदाहरण हमारे सामने है। उन्होने इतने अणु तथा उद्जन-बम तैयार कर लिये है कि उनसे विश्व के समस्त प्राणियो को नष्ट किया जा सकता है, फिर भी वे निर्भय नही है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय तो उन्हें सैनिक तैयारी में अपनी ही प्रतिमूर्ति दिखाई देती है। वे स्वय जितने भयकर बनते जा रहे हैं, प्रतिमूर्ति भी उतनी ही भयकर हो रही है। यह कहा जा सकता है कि शत्रु का अस्तित्व ही भय का कारण है। जबतक शत्रु जीवित है, भय बना रहेगा। किन्तु क्या शारीरिक अस्तित्व मिटा देने से शत्रु समाप्त हो सकता है? वास्तविक शत्रु तो हमारा भय है। जबतक हमारी द्वेष तथा घृणा की वृत्ति बनी हुई है, तबतक शत्रु बना रहेगा और भय भी विद्यमान रहेगा। इस प्रकार की वृत्तिया रहेंगी, तो प्रत्येक व्यक्ति शत्रु के रूप मे दिखाई देने लगेगा। घर तथा बाहर का सारा वातावरण शत्रुता से परिपूर्ण दृष्टिगोचर होगा। उसे दूर करने के लिए द्वेष के स्थान पर प्रेम का सचार करना होगा। शत्रु से मित्रता करनी होगी। तभी वास्तविक निर्भयता आ सकेगी और जब समस्त विश्व मित्र बन जायगा, तो शत्रु कौन रहेगा! उस समय हमारी शक्ति भी अनन्त हो जायगी।

इसी प्रकार सुख के लिए हम धन, भोग-विलास की सामग्री तथा अन्य तथाकथित सुख साधनो की ओर दौडते है। किन्तु उनमें ऐसे उलझ जाते है कि सास लेना कठिन हो जाता है। सुख के लिए धन कमानेवाला कमाई की उधेड-बुन में इतना उलझ जाता है कि अपने लक्ष्य को भूल

जाता है। इस विषय मे आध्यात्मिक परम्पराओ का कथन है कि सुख का स्रोत स्वयं तुम्हारे अन्दर है। उसे प्राप्त करने के लिए इतना ही पर्याप्त है कि तुम उसके विरोधी कारणो को दूर करो। राग, द्वेष और मोह दु ख के कारण हैं, उन्हें हटाने पर अपने-आप सुखी होते जाओगे।

इस बात को अनुभव की कसौटी पर परखा जा सकता है। हम ज्यो-ज्यो आत्म-निर्भर तथा परनिरपेक्ष होते जाते है, सुख की मात्रा बढती जाती है। इसी प्रकार ज्ञान के लिए भी बाहर न भटक कर आत्मा की ओर झुकना चाहिए। किसी विषय पर पचासो विद्वानो की राय जान लेने या उनकी पुस्तके पढ लेने से शास्त्रार्थ करने की शक्ति अवश्य आ जाती है, किन्तु हमारा ज्ञान प्राप्त करने का प्रयोजन तभी सिद्ध होगा जब उसे स्वय अनुभव किया जाय, उसे अपना बना लिया जाय। तभी हम कह सकते हैं कि अमुक विषय को हमने जान लिया। शक्ति, सुख तथा ज्ञान के लिए बाह्य वस्तुओ की ओर झुकने से वैपम्य आता है, समता नही रहती, उनमे शाश्वतता नही रहती और परनिरपेक्षता भी नही रहती, अतएव वे मूल्याकन का आधार नही बनते। जब वे ही आत्मलक्षी होते है, अर्थात् अपने ही अन्दर उनका विकास किया जाता है तो वे वैषम्य उत्पन्न नहीं करते; क्योकि प्रत्येक प्राणी उन्हे प्राप्त कर सकता है और इसके लिए किसी दूसरे के अधिकार छीनने की आवश्यकता नही रहती। मूल्याकन के ऐसे खरे तत्त्वो का पूर्ण विकास ही जीवन का चरम लक्ष्य है। इसीको मोक्ष, साक्षात्कार, ब्रह्मलय आदि शब्दो से कहा जाता है, यही परम मगल है।

: ६ :

अज्ञात मानव

ऊपर वताया जा चुका है कि मानव का संघर्प केवल वाह्य जगत् के साथ ही नही, अन्तर्जगत् के माथ भी है, और यह सघर्प वाह्य जगत् की तुलना मे अत्यधिक उग्र है। साथ ही यह भी वताया गया है कि उस संघर्ष के दूर होने पर वाह्य समस्याए अनायास ही सुलझ जायगी। उसका कारण मुख्यतया मानव की अपने विपय-मे अज्ञानता है। वह अपने-आप मे एक पहेली वना हुआ है। वह स्वय नहीं समझ पा रहा है कि मैं क्या हू। भौतिक विज्ञान और अध्यात्म दोनो इसकी खोज मे लगे हुए है। धर्म इसी पहेली का समाधान प्रस्तुत करता है।

नोवल-पुरस्कार-विजेता, प्रसिद्ध वैज्ञानिक करेल ने लिखा है कि पिछली शताव्दियो मे विज्ञान ने बहुत उन्नति की है। फिर भी यह मानना पडेगा कि उसे जैसी सफलता वाह्य जगत् मे मिली है; वैसी अन्तर्जगत् में नही मिली। जहातक भौतिक विज्ञान का प्रश्न है, वह अपने निर्णयो को अन्तिम रूप दे चुका है। वह ऐसे सिद्धान्तो को निकाल चुका है जो 'दो और दो चार' के समान निर्विवाद एव अन्तिम रूप से सत्य है। उन्ही सिद्धान्तो के आधार पर उसने वायुयान, रेडियो, टेलीविजन, अणुशक्ति तथा अन्य अनेक आश्चर्यजनक आविष्कार किये है। किन्तु शरीरशास्त्र, प्राणिशास्त्र, मानस-शास्त्र आदि विज्ञान की अन्य शाखाए, जो मनुष्य से सीधा सम्वन्ध रखती है, अभी तक प्रारम्भिक स्थिति मे ही है। उनके द्वारा प्रतिपादित अनेक सिद्धान्त कल्पनाओ एव सभावनाओ पर आधारित है। इसीलिए अनेक बार आज उनके द्वारा जिस तथ्य का प्रतिपादन किया जाता है, कल उसका खण्डन हो जाता है।

वास्तव मे देखा जाय तो मानव-विषयक अध्ययन ज्ञान अथवा विज्ञान की किसी एक शाखा से सम्बन्ध नही रखता । भौतिक शास्त्र, रसायनशास्त्र, जीवशास्त्र, मानसशास्त्र, राजनीति, दर्शन, समाजशास्त्र, साहित्य, कला, धर्म आदि जितनी विद्याए है, सबसे इसका सम्बन्ध है। वे सभी मानव को केन्द्र मे रखकर अपना अध्ययन प्रारम्भ करती है। कुछ मानव को लक्ष्य में रखकर बाह्य जगत् की खोज मे लगी है और कुछ उसके ही अन्तर्जगत् की ।

शरीर-विज्ञान ने यह पता लगा लिया कि किस प्रकार चेतनावाहक नाडिया (*motor nerves*) किसी अनुभव को मस्तिष्क तक पहुचाती है और उत्तेजक नाडिया (sensory nerves) किस प्रकार मस्तिष्क की आज्ञा शरीर के विभिन्न अंगों तक ले जाती है, जिसके फलस्वरूप उन अगो का सचालन होता है। लेकिन मस्तिष्क क्यो आज्ञा देता है, अर्थात् वह चेतन (conscious) क्यो है, इसका पता अभी तक नही लग सका है। मस्तिष्क मे भावना-तरगे क्यो और किस प्रकार उठती हैं ? विचार-प्रवाह किस प्रकार प्रारम्भ होता है ? एक वस्तु प्रिय तथा दूसरी अप्रिय क्यो लगती है ? एक व्यक्ति को देखकर हम हर्ष से प्रफुल्लित हो उठते हैं और दूसरे को देखकर क्रोध से जलने लगते है, ऐसा क्यो ? इन सबका उत्तर विज्ञान अबतक नही दे सका ।

जीव-रसायनशास्त्र (Biochemistry) ने यह पता लगा लिया कि भोजन के विशेप तत्त्व किस प्रकार शरीर मे जाकर विभिन्न अगो पर अच्छा या बुरा प्रभाव डालते है। उसनें शारीरिक स्वास्थ्य के लिए आवश्यक खनिज, लवण तथा अन्य तत्त्वो का पता लगाया, किन्तु शरीर पर आशाजनक विचार अच्छा और निराशाजनक विचार बुरा प्रभाव किस प्रकार डालते है, इसे किसी विज्ञान ने नही बताया ।

मनोविज्ञान ने हमारी मानसिक क्रियाओ का विश्लेषण एव वर्गीकरण किया । उसपर पडनेवाले बाह्य प्रभावो को समझने की कोशिश भी की ।

पारस्परिक प्रभाव एव प्रतिक्रियाओ का पता लगाया । अपराधी, उदार. स्वार्थी, परोपकारी आदि मनोवृत्तियो के कारण खोजने की चेष्टा की । वाह्य चेतना, अन्तश्चेतना, अवचेतन मन आदि की कल्पना की; किन्तु अन्त मे उसे एक ऐसी चेतना भी माननी पडी जो सब चेतनाओ का मूल स्रोत है तथा जिसका अध्ययन स्थूल चेतनाओ के अध्ययन से परे है । इसी मूल चेतना को अग्रेजी मे सुपरकाशसनैस (Super-conciousness अधिचेतना) कहते है ।

हमे यह मानना पडेगा कि केवल शरीर-रचना अथवा मानसिक क्रियाओ के अध्ययन से मानव का अध्ययन पूरा नही होता । साथ ही यह भी मानना पडेगा कि मानव को एक यन्त्र मान लेने से काम नही चलता । उससे समस्याओ का समाधान नही होता । एक मशीन की गतिविधि तथा उसके कल-पुरजो के विषय मे हमारा ज्ञान निश्चयात्मक होता है, हम उसके कार्यकारण-भाव को जानते हैं और उसपर नियत्रण कर सकते है, लेकिन मानव पर प्रयोग करते समय हमारे तथाकथित अनेक सिद्धान्त मिथ्या सिद्ध होते है । इसी प्रकार मानव फ्रॉयड का 'लिविडो' (काम-वासना) मात्र भी नही है । हमे यह मानना पडता है कि शरीर, प्राण, मन आदि सभी तत्त्वो का सचालन करनेवाला कोई अन्य तत्त्व है, जो जड के साथ सम्बन्ध स्थापित करता है । उस तत्त्व के विषय मे निश्चय किये विना मानव को नही समझा जा सकता ।

कठोपनिषद् मे उल्लेख है कि विधाता ने इन्द्रियो को बहिर्मुखी बनाया है, अतएव मनुष्य की वृत्तिया वहिर्मुखी है, अन्तर्मुखी नही । कोई विरला बुद्धिमान् ऐसा होता है जो अमृतत्व पाने की इच्छा से वाह्य वृत्तियो का विरोध करके अन्तरात्मा के दर्शन की चेष्टा करता है । विज्ञान-युग का वर्त्तमान मानव भौतिक तत्त्वो पर उत्तरोत्तर आधिपत्य करता जा रहा है । विद्युत् , रेडियो-किरणे, अणु आदि अनेक शक्तियो का आविष्कार करके वह स्वय आश्चर्य मे पड गया है । किन्तु साथ ही बाह्य तत्त्वो से उसका

सम्पर्क जितना बढ रहा है उतना ही वह अपने-आपको भूलता जा रहा है। उसने जल, स्थल और आकाश पर प्रभुत्व स्थापित कर लिया, किन्तु अपनी अतृप्त लालसाओ का स्वामी नही बन सका। आकाश में चमकते हुए ग्रह-नक्षत्रो का पता लगा लिया और उनके साथ सीधा सम्बन्ध स्थापित करने की ओर अग्रसर हो रहा है। भूगर्भ मे छिपी हुई वस्तुओ को खोज निकाला। समुद्र की गहराई मे घुसकर उसमे छिपे हुए रत्नों का पता लगा लिया, किन्तु वह अपनी आन्तरिक हलचलो पर नियन्त्रण नही कर सका। उसे यह पता नही लगा कि अन्तस्तल मे यह हर्ष और विषाद, आशाएं और निराशाएं, राग और द्वेष, घृणा और प्रेम क्यो उठ रहे हैं। वह यह जानता है कि समुद्र मे तरगे क्यो उठती है; किन्तु यह नही जान सका कि अन्तर्जगत् की तरङ्गो का क्या कारण है। उसने बडे-बडे बाध बनाकर नदियो के वेग को रोक दिया। धन-जन की अपार क्षति करनेवाली बाढो को रोककर उन्हे कृषि, विद्युत् आदि लाभदायक कार्यो मे लगा दिया। नहरें निकालकर उच्छृङ्खल जल-प्रवाह पर नियत्रण कर लिया और उसे अपनी इच्छानुसार काम मे लाने लगा, किन्तु वह अपने मनोवेगो को नही रोक सका। उनकी विनाशकारी शक्ति पर नियंत्रण नही कर सका। सब कुछ होते हुए भी वह अतृप्त ही रहा। उसने अपार शक्ति का सचय किया, फिर भी यह नही समझ सका कि सबको सतोष और शान्ति क्यों नही प्राप्त हुई।

मानव अपने-आपमे आज भी पहेली बना हुआ है। ज्ञान तथा विज्ञान की अनेक शाखाए उसका अध्ययन करने मे लगी है। शरीर-विज्ञान, मनोविज्ञान, दर्शन-शास्त्र, धर्म-शास्त्र, इतिहास, समाज-शास्त्र, राजनीति आदि सभी विद्याए उसके विविध पहलुओ का अध्ययन कर रही है, किन्तु समस्या उत्तरोत्तर उलझती ही जा रही है। इतना ही नही, ये विद्याए अपने निष्कर्षो का परस्पर खंडन भी कर रही है। समाजशास्त्र का कथन है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, उसे समाज के लिए जीना है और समाज के लिए मरना है, अत. स्वतन्त्र व्यक्तित्व नाम की कोई वस्तु नही है।

इसके विपरीत आध्यात्मिक परम्पराए कह रही है कि समाज एक बन्धन है। उसे तोड देने पर ही व्यक्तित्व का विकास हो सकता है। राजनीति व्यक्ति का लक्ष्य शासन की आज्ञाओ का पालन तथा राज्य-सस्था को उत्तरोत्तर दृढ करना बताती है। हृदय की भावनाओ को महत्त्व देनेवाला कलाकार उन कठोर नियमो को मानवता की हत्या मानता है। महाकवि रवीन्द्र ने अपनी 'तोते की शिक्षा' रचना मे इसी तथ्य को प्रकट किया है। शरीर-विज्ञान का दावा है कि मनुष्य एक भौतिक मशीन है। शरीर मे विभिन्न रासायनिक पदार्थों के प्रवेश द्वारा उसके स्वभाव मे इच्छानुसार परिवर्तन किया जा सकता है। उसके हर्ष और विषाद, बुद्धि की निर्मलता और जडता, घृणा और प्रेम, अहकार और क्रोध आदि सभी पर इजेक्शनो द्वारा नियन्त्रण करना सम्भव है। शरीरशास्त्र का यह दावा अभी तक सत्य सिद्ध नही हुआ है। यदि यह मान भी लिया जाय कि वह दावा एक दिन वास्तविकता बन जायगा, तो भी क्या उस दिन मानवता की सभी समस्याए सुलझ जायगी ? क्या मानव सुखी हो सकेगा ? निश्चित है कि सत्तारूढ वर्ग अपनी स्वार्थ-पूर्त्ति के लिए इन उपायो का प्रयोग दुर्बल एव अज्ञान जनता पर करेगा। इतिहास इसका साक्षी है।

मनोविज्ञान के आचार्य फ्रॉयड का कहना है कि मानव कुछ मानस-ग्रन्थियो का पुञ्ज है। दबी हुई कामवासना ही उसका प्रेरक तत्त्व है। मानसिक विश्लेषण एव अन्य क्रियाओ द्वारा यदि उसकी ग्रन्थिया खोल दी जाय तो वह सुखी हो सकता है। मनोविज्ञान पागलो का इलाज इसी आधार पर करता है। उसने यह माना है कि चेतन मन का अधिष्ठान अवचेतन मन है और उसकी प्रेरणा चेतन मन की अपेक्षा अधिक बलवती है, अत मनुष्य की रुचि तथा अरुचि, इच्छा तथा घृणा आदि को समझने के लिए अवचेतन मन मे छिपे हुए सस्कारो का अध्ययन करना चाहिए। ये सस्कार पुरातन आघातो एव अनुभवो के परिणाम हैं। इन्ही को धार्मिक जगत् मे पूर्व-कर्म या अदृष्ट के रूप मे कहा जाता है। लेकिन यहा एक प्रश्न उठता है कि इन सस्कारो का आधार क्या है ? सस्कार एक प्रकार की छाप है। वह वस्त्र कौन-सा है, जिसपर यह छाप पडती

है ? इसके उत्तर में वैज्ञानिको ने अधिचेतना के रूप मे किसी तत्त्व को माना है जिसे धार्मिक जगत् आत्मा के रूप मे स्वीकार करता है।

वास्तव मे देखा जाय तो मानव को समझने के लिए उपर्युक्त सभी तत्त्वों को ध्यान मे रखना होगा। शरीर, इन्द्रिया, मन, बुद्धि, भावनाए, सामाजिक प्रतिष्ठा, धन-सम्पत्ति आदि सभी व्यक्तित्व के अग हैं। उनमें से किसीकी उपेक्षा करना मानव का एकागी अध्ययन होगा। साथ ही यह भी जानना होगा कि इनमें कौन किसका सचालन करता है। क्या कोई ऐसा तत्त्व भी है, जो इन सबका केन्द्रबिन्दु है, जो दूसरो के न रहने पर भी अपना अस्तित्व रख सके, किन्तु जिसके बिना और सब व्यर्थ हो जाते हो ? भारत की आध्यात्मिक परम्पराओ ने इस तत्त्व की खोज की है। उनका कथन है कि इस तत्त्व को आखो से नही देखा जा सकता, फिर भी इसके अस्तित्व का अनुभव किया जा सकता है। धन-सम्पत्ति, सामाजिक प्रतिष्ठा, सन्तान आदि सभी उसके लिए है। शरीर, इन्द्रियां, मन और बुद्धि का सचालन करनेवाला तत्त्व भी वही है।

उपनिषदो मे व्यक्ति का विश्लेपण पाच कोषो के रूप मे किया गया है :

१. अन्नमय—अर्थात् स्थूल शरीर।
२. प्राणमय—ज्ञानेन्द्रिया, कर्मेन्द्रियां और प्राणवायु।
३. मनोमय—सकल्प, विकल्प, तथा इच्छाओ का पुञ्ज मन।
४. विज्ञानमय—सत्यासत्य तथा हिताहित का निर्णय करनेवाली बुद्धि।
५. आनन्दमय—सुखानुभूति।

उनका यह भी कथन है कि इनसे भी परे आत्मा नाम का कोई तत्त्व है, जो सबका अधिष्ठाता है। वेदान्त ने यह भी बताया है कि जीवन इस स्थूल जगत् तक सीमित नही है। इसके अतिरिक्त तीन जगत् और है। यह स्थूल जगत् जाग्रत अवस्था कही जाती है अर्थात् इसमे शरीर, इन्द्रिया मन आदि सभी कार्य करते रहते है। इससे सूक्ष्म स्वप्न-जगत् है, जहां

स्थूल शरीर और इद्रिया अपना काम बन्द कर देती है; केवल मन जागता रहता है और वह हाथी-घोडे आदि की स्वप्न-जगत् मे सृष्टि करता है। तीसरी सुषुप्ति अवस्था है जहा सकल्प-विकल्पात्मक मन भी सो जाता है और केवल अनुभूति शेष रह जाती है, अर्थात् आनन्दमय कोष जागृत रहता है। चौथी तुरीय अवस्था कहलाती है, जिसे योगी समाधि द्वारा प्राप्त करते है। उस समय शुद्ध आत्मा के अतिरिक्त कोई तत्त्व काम नही करता। उपर्युक्त चार अवस्थाओ मे से प्रथम तीन का अनुभव प्रतिदिन होता है, यह भी सत्य है।

यहा यह बात वस्तुत प्रेरणादायक है कि स्वप्नावस्था के मनोमय जगत् मे जागृत अवस्था के स्थूल जगत् का कोई महत्त्व नही है। एक करोडपति समस्त सुख-साधनो के होते हुए भी स्वप्न मे यह अनुभव करता है कि उसकी सम्पत्ति नष्ट हो गई और रोने लगता है। एक दरिद्र यह अनुभव करता है कि वह लखपति हो गया है और हाथी पर उसकी सवारी निकल रही है। इस प्रकार हम देखते है कि मानस-जगत् बाह्य जगत् की परवा नही करता। यह ठीक है कि बाह्य जगत् का उसपर प्रभाव पडता रहता है, किन्तु यदि वह चाहे तो उस प्रभाव से मुक्त भी रह सकता है। जिन व्यक्तियो के पास पर्याप्त मनोबल है, सकट तथा अभाव उन्हें दु.खी नही बना सकते। मानस-जगत् की अपेक्षा स्वानुभूत्यात्मक आनन्दमय जगत् और भी सूक्ष्म है। वह ऐसी अवस्था है, जहा मन के सकल्प-विकल्प भी रुक जाते है। यह अवस्था जब निद्रा के कारण आती है तो वह तामसिक कही जाती है। वहा ज्ञान-शक्तियो पर एक परदा-सा पड जाता है और पर्दा हटते ही फिर सुख-दु खादि द्वन्द्वो से परिपूर्ण स्थूल जगत् सामने आ जाता है। यदि उस अवस्था को समाधि के द्वारा प्राप्त किया जा सके तो वहा आनन्द की पराकाष्ठा हो जाती है। समाधि मे इच्छा, द्वेष आदि बाह्य वृत्तियो पर परदा नही पडता, किन्तु चित्त को उनसे हटाकर आत्म-तत्त्व मे लगाया जाता है। उससे व्यक्ति प्रयत्नपूर्वक अपने अन्दर रहे हुए आनन्द की अनुभूति करता है। यह अनुभूति जब स्थायी हो जाती है, उसीका नाम

साक्षात्कार, कैवल्य या मोक्ष है। उपर्युक्त अवस्थाओ मे उत्तरोत्तर बन्धन तथा पराधीनता की मात्रा घटती जाती है। स्थूल जगत् की अपेक्षा स्वप्न-जगत् मे बन्धन और परावलम्बन की न्यूनता है—स्वप्न-जगत् की अपेक्षा सुषुप्ति मे और सुषुप्ति की अपेक्षा तुरीयावस्था मे, जहा समस्त बन्धन और पराधीनताए समाप्त हो जाती है।

साख्य दर्शन ने हमारे व्यक्तित्व का आधार चेतना तथा तीन गुणो का परस्पर-सम्बन्ध बताया है। वे है सत्त्व, रजस् और तमस्। सत्त्व का कार्य है ज्ञान एव बुद्धि की निर्मलता। रजोगुण का कार्य है क्रियाशीलता तथा रागद्वेष आदि। तमोगुण का कार्य है अज्ञान एव जडता। यद्यपि दृश्यमान विश्व के प्रत्येक पदार्थ मे तीनो गुणो की सत्ता है, फिर भी उनमे न्यूनाधिकता होती रहती है। इसी न्यूनाधिकता या विषमता के कारण विविध प्रकार की सृष्टि होती हैं। हमारे स्थूल शरीर मे तमोगुण की प्रधानता है, हाथ-पाव आदि कर्मेन्द्रियो मे रजोगुण की, और आंख-नाक-कान आदि ज्ञानेन्द्रियो मे सत्त्वगुण की। मन मे तीनो गुण रहते है। जब सत्त्व का प्राधान्य होता है तो वह ज्ञान एव भले-बुरे के विवेक की ओर झुकता है। जब रजोगुण का प्राधान्य होता है तब सकल्प, विकल्प और इच्छाओ की ओर; और जब तमोगुण का, तब आलस्य एव सन्तान की ओर। इन्ही गुणो की न्यूनाधिकता के कारण व्यक्तियो के स्वभाव मे भी अन्तर पड़ जाता है। सत्त्वगुणवाला सुखी, ज्ञानी और निर्मल वृत्तियोवाला होता है। वह किसीका बुरा नही चाहता और न मोह एव सासारिक बन्धनो में फसना चाहता है। रजोगुणवाला क्रियाशील होता है। वह शान्त नही बैठ सकता। निरन्तर नई-नई योजनाए बनाने तथा उनके लिए सघर्ष करने मे लगा रहता है। तमोगुणवाला आलसी एव अज्ञानी होता है। वह अपने भले-बुरे को नही समझता। यह मानसिक अविकास की अवस्था है। रजोगुण मे अपेक्षाकृत विकास तो होता है, किन्तु वृत्तिया बहिर्मुखी रहती हैं। मन मे सकल्प-विकल्प तथा उधेडबुन चलती ही रहती है। सत्त्व शुद्ध विकास की अवस्था हे। उस समय शान्ति, सुख एव ज्ञान की ओर

झुकाव रहता है। पाच ज्ञानेन्द्रिया, पाच कर्मेन्द्रिया, शरीर के रूप में परिणत पाच महाभूत तथा मन हमारे व्यक्तित्व के घटक है। इनके अतिरिक्त तीन तत्त्व और है। मन से भी पहले अहकार है, जो हमारी अस्मिता तथा जड वस्तुओ के प्रति ममत्व का कारण है। अहकार का मूल कारण महत् या वुद्धि है, जो कि जड और चेतन के परस्पर-सम्वन्ध का नाम है। उपर्युक्त अठारह तत्त्व जड है। इनके अतिरिक्त पुरुष नाम का एक और तत्त्व है, जो शुद्ध चेतन-रूप है। वह स्वय कुछ नही करता, किन्तु जगत् मे होनेवाली समस्त हलचल उसीके सम्बन्ध से तथा उसीके लिए है। विकास का अर्थ है, तमोगुण तथा रजोगुण के प्रभाव को घटाते हुए सत्त्व गुण को विकसित करना।

इसी भाव के आधार पर योगशास्त्र मे पाच प्रकार की चित्त-वृत्तियां वताई गई है। सर्वप्रथम, क्षिप्त है, जिसमे व्यक्ति भौतिक कामनाओं की पूर्ति तथा वाह्य विषयो की ओर झुका रहता है। इसमे रजोगुण की प्रधानता होती है। दूसरी मूढ दशा है, जहा आलस्य एव अज्ञान की प्रधानता रहती है। यह तमोगुण का प्रभाव है। तीसरी विक्षिप्त दशा है, जहा मन अस्थिर रहता है। कभी वाहर की ओर जाता है और कभी अन्दर की ओर। इसमे कभी रजोगुण का और कभी सत्त्वगुण का प्रभाव रहता है। तीसरी अवस्था एकाग्रता है, जहा मन इधर-उधर भटकना छोड़कर किसी केन्द्र पर स्थिर हो जाता है। यह सत्त्वगुण का प्रभाव है। पाचवी निरोध दशा है, जहा चित्त निर्विषयक, अर्थात् विचार-शून्य, हो जाता है। यह गुणातीत अवस्था है। इन धाराओ को पांच स्कन्धो मे विभक्त किया गया है—१. रूप २. विज्ञान ३. वेदना ४. सज्ञा और ५. सस्कार। ये ही पाच स्कन्ध व्यवितत्व के घटक है। इनके अतिरिक्त आत्मा नाम का कोई शाश्वत तत्त्व नही है।

उपर्युवत धाराओ का प्रवाह कुशल तथा अकुशल दोनो प्रकार का होता है। वौद्ध धर्म की हीनयान नामक प्राचीन शाखा के अनुसार दोनो प्रकार के प्रवाह को रोकना ही साधना का लक्ष्य है। किन्तु महायान-

परम्परा अकुशल प्रवाह को रोककर कुशल प्रवाह को प्रवृत्त करने पर वल देती है ।

बौद्ध धर्म के अनुसार हमारा व्यक्तित्व एक प्रवाह है, जिसमें सुख-दु ख, हर्ष-विषाद आदि अनुभूतियो तथा घट-ज्ञान, पट-ज्ञान आदि प्रतीतियो की धाराए निरन्तर चलती रहती है । इन धाराओ के मूल में कोई शाश्वत तत्त्व नही है । इनका कारण पुरातन सस्कार है जिसका अर्थ है अपने जीवन को अन्य प्राणियो के उद्धार में लगा देना । और जबतक समस्त प्राणी सुखी न हो, स्वय भी निर्वाण का सुख प्राप्त न करना । इसी को महाकरुणा कहा गया है । जब पुराने संस्कार समाप्त हो जाते हैं और नये अस्तित्व मे नही आते, तों धारा अपने-आप सूख जाती है । इसीका नाम निर्वाण है, जो हीनयान शाखा के अनुसार जीवन का चरम लक्ष्य है । महायान-परम्परा इसके विपरीत बुद्धत्व की प्राप्ति पर वल देती है । बौद्ध व्यक्तित्व की उपमा दीपक की जलती हुई लौ या नदी की धारा से देते हैं । लौ मे प्रतिक्षण नया तेल तथा नई वत्ती पहुचकर जलते रहते है और भस्म होते जाते है । नया तेल न मिलने पर दीपक अपने-आप बुझ जाता है । यही निर्वाण है । इसी प्रकार नया पानी न मिलने पर नदी की धारा अपने-आप सूख जाती है । बौद्ध धर्म मे अस्तित्व ही बन्धन है और उसकी समाप्ति के लिए किया जानेवाला प्रयत्न ही साधनाहै । विकास का अर्थ है, अस्तित्व का उत्तरोत्तर क्षीण होते जाना । वहा निर्वाण के पश्चात् किसी सुख या आनन्द की प्राप्ति नही होती; केवल अस्तित्व, जो कि सदा दुःखमय है, समाप्त हो जाता है ।

जैन दर्शन के अनुसार हमारा व्यक्तित्व तीन शरीर, दस प्राण तथा आत्मा द्वारा निर्मित है । तीन शरीरो मे पहला औदरिक शरीर है, जो अस्थि, मांस, रुधिर आदि से बना हुआ है । दूसरा शरीर तैजस् है जो औदरिक शरीर को जीवन तथा शक्ति प्रदान करता है । तीसरा कार्माण शरीर है । यह उन सस्कारो अथवा मलिनताओं का पुञ्ज है, जिन्हे आत्मा चिरन्तन काल से सचित करता आ रहा है । भारत के सभी धर्म इस बात

को मानते है कि मन, वचन अथवा शरीर द्वारा की गई प्रत्येक क्रिया अपना कुछ-न-कुछ सस्कार आत्मा पर छोड जाती है और प्राणी इन्ही सस्कारो के कारण भटकता रहता है। ज्यो-ज्यो इन सस्कारो का प्रभाव घटता जाता है, उसके ज्ञान, सुख एव शक्ति मे वृद्धि होती जाती है।

ये सस्कार दो प्रकार के है। कुछ ऐसे है, जो आत्मा की स्वाभाविक शक्ति को कुण्ठित करते है और कुछ ऐसे है, जिनके कारण नई रचना होती है। वेदान्त में इन्ही दो प्रकारो को लेकर अविद्या की दो शक्तिया मानी गई है ये है आवरण-शक्ति और विक्षेप-शक्ति। जैन परिभाषा मे इन सस्कारो को कर्म कहा गया है। ये कर्म दो प्रकार के है घाती कर्म तथा आघाती कर्म। घाती कर्म आत्मा के स्वाभाविक गुणो का घात करते है तथा अघाती कर्म शरीर आदि नई रचना के लिए उत्तरदायी है। इन्ही कर्मों के समूह का नाम कार्माण शरीर है। विकास का अर्थ है, आत्मा द्वारा कर्मो के प्रभाव को हटाकर अपनी स्वाभाविक शक्तियो को जाग्रत करना।

इन तीन शरीरो के अतिरिक्त दस प्राण है—पाच ज्ञानेन्द्रिया, मन, वचन, काय-रूप शक्तिया, श्वासोच्छ्वास एव आयु। इसके अतिरिक्त आत्मा है जो अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख तथा अनन्त वीर्य का पुञ्ज है। विकास का अर्थ है, इन चार अनन्तो की उपलब्धि।

'भगवतीसूत्र' मे आत्मा के आठ भेद बताये गए है

१ **द्रव्यात्मा**—अर्थात् सभी परिस्थितियो तथा दशाओ मे अनुस्यूत रहनेवाला चेतन तत्त्व।

२ **कषायात्मा**—अर्थात् आत्मा की वह अवस्था जब वह क्रोध, मान, माया और लोभ-रूप कषायो से अभिभूत रहता है।

३ **योगात्मा**—मन, वचन और काया की प्रवृत्ति मे लगा हुआ आत्मा।

४ **उपयोगात्मा**—बाह्य विषयो के ज्ञान की ओर झुका हुआ आत्मा।

शेष चार भेद ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य—आत्मा के चार गुणो

से सम्बन्ध रखते है। विकास का अर्थ है, कषायात्मा और योगात्मा को हटाकर अन्य आत्माओ की अभिव्यक्ति ।

पाश्चात्य धार्मिक परम्पराओ के अनुसार मनुष्य अपने-आप में दुष्ट तथा गुणहीन है। आसुरी वृत्ति इसका स्वभाव है और दैवी वृत्ति विभाव, जिसे राज-दण्ड, समाज-दण्ड, नरक-दण्ड आदि का भय दिखाकर लादा जाता है। इसके विपरीत भारतीय परम्पराओ मे मानव का असली रूप अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख तथा अनन्त शक्ति है। इसीको सच्चिदानन्द अथवा अन्य नामो से कहा जाता है। वैदिक आर्य प्रार्थना करते हुए कहता है—"हे परमेश्वर, मुझे असत् से सत् की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर तथा मृत्यु से अमरत्व की ओर ले चल।" असत् अर्थात् अभाव निर्बलता का प्रतीक है, अन्धकार अज्ञान का और मृत्यु दुःख का। साधक निर्बलता, अज्ञान तथा दु.ख को छोडकर सशक्तता, प्रकाश तथा अमृतत्व अर्थात् शाश्वत सुख की ओर जाना चाहता है। इसी अवस्था का नाम परम मानव है। इसके लिए जो साधना की जाती है वही दानवता से मानवता की ओर अग्रसर होना है।

कठोपनिषद् तथा भगवद्गीता मे मानव-यन्त्र की एक रथ के साथ तुलना की गई है। आत्मा रथ का स्वामी है, जो स्वय कुछ नही करता, किन्तु सबकुछ उसीके लिए हो रहा है। निष्क्रिय होने पर भी वह सबका अधिष्ठाता है। शरीर रथ है, बुद्धि सारथि है, मन लगाम है और इद्रिया घोडे है। साथ मे यह भी बताया गया है कि यदि लगाम सारथि के हाथ मे है तो घोडे ठीक रास्ते पर चलेगे और रथ गन्तव्य स्थान पर पहुच सकेगा। इसके विपरीत यदि लगाम सारथि के हाथ से छूट गई तो घोडे मनमानी दौड़ लगायेगे। परिणामस्वरूप रथ लक्ष्य पर न पहुचकर किसी गड्ढे में जा गिरेगा, अर्थात् हमारे सकल्प-विकल्प और इच्छाए भले-बुरे का विवेक करनेवाली बुद्धि के हाथ मे रहने चाहिए, तभी इन्द्रिया ठीक रास्ते पर चलेगी और हम अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकेंगे।

भारत की आध्यात्मिक परम्पराओ ने हमारे व्यक्तित्व का जो विश्लेषण किया है उसका दिग्दर्शन ऊपर कराया गया। शॉपनहावर ने उपर्युक्त बातो के अतिरिक्त धन-सम्पत्ति तथा सामाजिक सबधो को भी व्यक्तित्व मे गिना है। उसका कथन है कि जिन तत्त्वो के आधार पर व्यक्ति का मूल्याकन होता है, वे सभी व्यक्तित्व के अन्तर्गत है, किन्तु किन तत्त्वो को गिना जाय और किनको छोडा जाय, यह प्रश्न विवादग्रस्त है। एक व्यक्ति जिस बात को महत्त्व देता है, दूसरा उसे तिरस्कार की दृष्टि से देखता है। महत्त्व देनेवाला व्यक्ति उस बात को लाभ के पक्ष में रखेगा और तिरस्कार करनेवाला ऋण के पक्ष मे। उनमे से कुछ तत्त्व ऐसे हैं, जो सार्वभौम हैं। वे प्रत्येक स्थिति मे उपादेय है और अपने-आप मे महत्त्वपूर्ण हैं। उनका महत्त्व किसी दूसरे की अपेक्षा नही रखता। दूसरे तत्त्व वे हैं जो एक स्थिति मे उपादेय है और दूसरी मे त्याज्य। उनका महत्त्व किसी दूसरे की अपेक्षा रखता है। उदाहरण के रूप मे, धन हमारी आवश्यकताओ की पूर्त्ति का साधन है। जिस व्यक्ति की भौतिक आवश्यकताए पूर्ण नहीं होती, जो अपने भोजन, वस्त्र तथा निवास की समुचित व्यवस्था नही कर पाता, जो बच्चो की शिक्षा के लिए आवश्यक व्यय नही कर सकता उसके लिए धन उपादेय है, किन्तु जिसके लिए धन अहकार तथा विलासिता का पोषण कर रहा है, जो इसका उपयोग दूसरे के उत्पीडन मे करता है, उसका धन हेय है और वह व्यक्तित्व के ऋण-पक्ष मे गिना जायगा।

: ७ :

धर्म को चुनौती

हमने मानवीय समस्याओ का निरूपण करते समय यह बताया कि उनका समाधान धर्म ही कर सकता है, किन्तु इतिहास इसका समर्थन नही करता। चिरन्तन काल से अनेक धर्मो का प्रादुर्भाव होता चला आ रहा है, किन्तु समस्याए ज्यो-की-त्यो खडी है। प्रत्युत धर्म स्वयं एक समस्या बन गया है। अन्य बातो के समान वह भी परस्पर ईर्ष्या, द्वेष, अत्याचार, शोषण एव सहार का कारण बना हुआ है। परिणामस्वरूप वर्तमान युग का मानव धर्म को सन्देहपूर्ण दृष्टि से देखने लगा है। एक ओर वह धर्म के नाम पर चलनेवाले मन्दिरो, मठो, मस्जिदो तथा विविध सम्प्रदायो के विश्व-व्यापी जाल को देख रहा है, भूलोक को स्वर्ग बना देने के उनके ऊचे-ऊचे दावो को सुन रहा है; दूसरी ओर यह देख रहा है कि मानवता प्रतिदिन गिर रही है। धर्म-सस्था के अधिकारी इस पतन का कारण मनुष्य की स्वार्थवृत्ति, सत्ता-लोलुपता तथा दूसरे कारणो को बता रहे हैं; इसके विपरीत देखा जाय तो वस्तुत धर्म-सस्थाए स्वय स्वार्थ-वृत्ति एव सत्ता-लोलुपता का शिकार बनी हुई है। शैतान ईश्वर तथा धर्म का नाम लेकर नग्न ताण्डव कर रहा है। आसुरी सम्पद् दैवी सम्पद् का चोगा पहनकर नाच रही है। मानव देख रहा है कि देवासुर-सग्राम मे नाम कुछ भी हो, वास्तविक विजय देवो की नही, असुरो की हो रही है। वह पूछ रहा है कि इस नग्न सत्य के होते होते हुए भी क्या हम धर्म से कुछ आशा रख सकते है? क्या अब भी उसकी आवश्यकता सिद्ध की जा सकती है?

जागरूक मानव की इस चुनौती को नास्तिक, काफिर, मिथ्यात्वी आदि हल्के शब्द कहकर नही टाला जा सकता। यह एक गम्भीर प्रश्न है

और इसपर गम्भीरता से विचार करना होगा। सर्वप्रथम हमे यह जानना है कि उपर्युक्त आरोप लगाते समय 'धर्म' शब्द से क्या समझा जा रहा है ? 'धर्म' शब्द से चुनौती देनेवाले का अभिप्राय बाह्य क्रिया-काण्ड तथा विचित्र वेष-भूषा की उन परम्पराओ से है, जिन्होने थोथी अस्मिता को जन्म दिया एव मनुष्य तथा मनुष्य के बीच मानसिक दीवारें खडी कर दी। धर्म ने मनुष्य को अहकार-वृत्ति के दमन का सदेश दिया, किन्तु इन परम्पराओ ने उसका पोषण किया। अत' उसके आरोप को हम निराधार नही कह सकते। साथ ही यह भी मानना होगा कि धर्म और धर्म के नाम पर खडी होनेवाली परम्पराओ मे बहुत बडा अन्तर है। धर्म मानवता का ही दूसरा नाम है और जब मनुष्य उस नाम का दुरुपयोग कर अपने अहकार, स्वार्थ अथवा अन्य आसुरी वृत्तियो का पोषण करने लगता है तो सम्प्रदाय खडे हो जाते है। धर्म आकाश में उन्मुक्त विहार करते हुए बादलो का पानी है, जो हरियाली अथवा सहृदयता देखकर बरसने लगता है। बरसना तथा दुनिया को उत्ताप से मुक्त करना उसका स्वभाव है। उसपर किसी व्यक्ति या समाज का अधिकार नही है। वह अत्यन्त निर्मल एव स्वास्थ्यकर है। सम्प्रदाय वे गड्ढे है, जिनमें उस पानी को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया जाता है। किन्तु भूमि का स्पर्श करते ही उस पानी मे मिट्टी मिलना प्रारम्भ हो जाता है। धीरे-धीरे एक दिन आता है जब पानी सूख जाता है और कीचड ही शेष रहता है। गड्ढो के सरक्षक इस बात की चिन्ता नही करते कि उनमे से कीचड निकाल दिया जाय और नये बादलो का नया पानी आने दिया जाय। सडते हुए पानी के प्रति उनकी आस्था और अस्मिता ऐसी जड पकड लेती है कि उसके साथ सबध रखनेवाला कीचड, गदगी तथा कीडे-मकोडे भी उन्हें पवित्र जान पडते है। गड्ढा अपने-आप मे मुख्य तत्त्व बन जाता है और पानी गौण हो जाता है। महाकवि रवीन्द्र के शब्दो मे धर्म एक जाज्वल्यमान प्रदीप है, जिसकी प्रभा सभीको आलोकित करती है। हम उसपर सम्प्रदाय या अस्मिता की चादर ढक देते है और समझते है कि अब हवा का झोका

उस दीप को न बुझा सकेगा। किन्तु ताजा हवा न मिलने के कारण वह अपने-आप बुझ जाता है और हम चद्दर ढके उसके दीपक के प्रज्वलित होने की मिथ्या कल्पना लिये बैठे रहते है। प्रकाश को न स्वय प्राप्त करते है न दूसरो को प्राप्त करने देते है। फिर भी इस बात का गर्व करते है कि दीप प्रज्वलित है और उसके प्रधान कारण हम हैं। यदि कोई उसके प्रकाश को मन्द बताता है, अथवा यह कहता है कि वह बुझ गया है, तो उससे झगडा करने को तैयार रहते है। उसे दबाने के लिए हिसक तथा अहिसक, वैध तथा अवैध, सभी उपायो को अपनाते है और इसे धर्मयुद्ध या क्रूसेड कहते हैं। वास्तव मे देखा जाय तो हम धर्म को नया सास लेने ही नही देते। उसे चहारदीवारी मे इस प्रकार बन्द कर देते हैं, जिससे उसका दम घुट जाता है, और जब वह निर्जीव हो जाता है तो उसका नाम लेकर अपनी अनर्गल पाशविक वृत्तियो का पोषण करने लगते है। इसका अर्थ यह नही है कि धर्म उपयोगशून्य हो गया। पथ या सम्प्रदाय के लिए भले ही ऐसा कहा जाय, वे तो उसके शव-मात्र है। हम सम्प्रदाय को धर्म का शरीर कह सकते है, किन्तु शरीर वही तक उपयोगी है जबतक उसमे आत्मा है। पानी है तो सरोवर है, उसमे कमल भी खिल सकते है, किन्तु पानी न रहने पर वह गर्त है, खाई है और सडाधपूर्ण कीचड है।

महाकवि ने एक दूसरा उदाहरण उपस्थित करते हुए प्रश्न किया है—फूल क्यो मुरझा गया? उत्तर दिया है—मैंने उसे लता से तोड़कर अपनी छाती से चिपका लिया। परिणामस्वरूप वह मुरझा गया। जो फूल लता पर मुस्करा रहा है, जिसे प्रतिक्षण नई प्राणशक्ति मिल रही है, जो निसर्ग की सुन्दर देन है और उसीकी सम्पत्ति है, वही वातावरण को सुगधित कर सकता है। हवा उसकी सुगध को लेकर दूर-दूर तक मधुर सन्देश देती रहती है। पूरा खिलने के बाद उसकी पंखुडिया बिखर जाती हैं और मिट्टी मे मिल जाती है। वह मिट्टी सुगन्ध से भरे हुए अनेक नये फूलों को जन्म देती है। स्वार्थी मानव एकाधिपत्य करने के लिए फूल को तोड़ लेता है, चाहता है इसकी सुगन्ध पर मेरा एकाधिकार रहे, किन्तु दूसरे ही

क्षण वह मुर्झाने लगता है, उसकी सुगध घटने लगती है और दूसरे दिन उसका स्थान कूडे के ढेर पर होता है। गजरे मे गुथे हुए फूल क्षण-भर के लिए किसीकी इच्छा-पूर्त्ति भले ही करे, उनकी सुगन्ध तथा सौन्दर्य विश्व की स्थायी सम्पत्ति नही वन सकते ।

बुझे हुए प्रदीप की कालिमा तथा फूल के कचरे को देखकर हम यह नही कह सकते कि मानव को प्रदीप की आवश्यकता नही है अथवा पुष्प का खिलना वेकार है। अव भी अधेरा दूर करने के लिए प्रकाश की आवश्यकता है । मन को प्रफुल्लित करने के लिए सुगन्ध की आवश्यकता है। दिव्य भावनाओ के जागरण के लिए निर्दोप सौन्दर्य की आवश्यकता है।

अव यह प्रश्न उपस्थित होता है—क्या कोई ऐसा उपाय है जिसके द्वारा धर्म को इन विनाशक तत्त्वो से वचाया जा सके ? महावीर, बुद्ध, ईसा, गाधी आदि जो सुगन्वित फूल विश्व के महान् उद्यान मे खिले और जिन्हें तोडकर तथाकथित अनुयायियो ने अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति वना लिया, क्या उन्हें पुन विश्व-उद्यान मे प्रतिष्ठित किया जा सकता है ? दीप को सजोनेवाला कोई हो, घृत, पात्र, तेल तथा वत्ती का आयोजन किसीने किया हो, फिर भी क्या दीपक की प्रभा को उसके एकाधिपत्य से मुक्त रक्खा जा सकता है ? क्या उसकी लौ अक्षुण्ण रखी जा सकती है ? हा, अवश्य। इसका एकमात्र उपाय यही है कि सजोनेवाला यह समझे कि उस दीप की प्रभा का दूसरो द्वारा अवलोकन किये जाने से वह घटती नही है, और यह कि उसे सुरक्षित रखने के लिए निरन्तर नया तेल और नई वत्ती चाहिए। समाजशास्त्रियो का कथन है कि प्रत्येक सफल सामाजिक सगठन का एक जीवन होता है। वह सगठन कुछ व्यक्तियो के सद्-प्रयत्नो से जन्म लेता है, विकसित होता है, परिपाक की ओर वढता है और अन्त मे अपना सकुचित रूप त्यागकर मानव-मात्र के हृदय को स्पर्श करता है। उसका स्थूल शरीर अवश्य नष्ट हो जाता है, किन्तु उसकी शिक्षाए, आज्ञाए एव मान्यताए, जो कि उसकी आत्मा हैं, सर्वदा जन-मानस को प्रेरित करती रहती है ।

महावीर, बुद्ध, गाधी आदि ने अपने त्याग तथा तपोबल के द्वारा धर्म के जिस प्रदीप को प्रज्वलित किया, उसमे नये तेल तथा नई बत्ती की प्रतिक्षण आवश्यकता है। उनके नाम पर जो परम्पराए खडी हुईं, यदि उनमे समय-समय पर परिवर्तन एव परिष्कार होता रहता है, त्याग एव तपस्या की आहुतिया मिलती रहती हैं, तो उनकी प्रभा फैलती रहेगी। एक बार दी गई आहुति के वल पर कोई प्रभा सतत प्रज्ज्वलित नही रह सकती। महावीर, बुद्ध और गाधी का त्याग हमारा मार्ग-दर्शन कर सकता है, उससे हमे प्रेरणा मिल सकती है, किन्तु केवल उनके त्याग के सहारे हम सदा के लिए नही टिक सकते। नई आहुति देनी ही पडेगी।

धर्म की आवश्यकता के विषय मे एक अन्य प्रश्न भी किया जाता है। धर्म किसी अतीन्द्रिय तत्त्व को केन्द्र-बिन्दु मानकर चलता है, उसका नाम ईश्वर, आत्मा या अन्य कुछ भी हो, अथवा उसका स्वरूप कैसा भी हो, उस तत्त्व की प्राप्ति के लिए किये जाने वाले प्रयत्न का नाम ही धर्म है। व्यक्ति के जीवन का सचालन करने के लिए परिवार, समाज, राष्ट्र आदि अनेक तत्त्व है जो उसपर कर्त्तव्य का बोझ लादते रहते है। व्यक्ति को स्वय अपने विकास के लिए भी अनेक परिस्थितियो से सघर्ष करना पड़ता है। उसके सामने इतने क्षेत्र खुले है कि नये क्षेत्र की आवश्यकता नही रह जाती। परिवार, समाज आदि तत्त्व तथा व्यापार आदि क्षेत्र प्रत्यक्ष फल देनेवाले है। इनके सामजस्य से मनुष्य की सभी समस्याओ का समाधान हो सकता है। फिर किसी अप्रत्यक्ष तत्त्व की कल्पना करके मनुष्य पर नया बोझ लादने से क्या लाभ ।

इस प्रश्न के उत्तर मे हमे वर्त्तमान वातावरण का विश्लेषण करना होगा। जन्म से लेकर मृत्यु तक सैकडो तत्त्व मनुष्य को प्रभावित करते रहते है और यह नही कहा जा सकता कि उन सबका प्रभाव किसी एक दिशा की ओर है। वे मनुष्य को परस्पर-विरोधी दिशाओ की ओर खीचते हैं। धर्म कहता है कि शत्रु को भी गले लगाओ। राष्ट्र कहता है, उसको सहन न करो। पारिवारिक आवश्यकताए कहती है, उचित एव अनुचित

सभी उपायो से धनोपार्जन करो। समाज कहता है, स्वय भूखे रहकर भी अपने पडौसी की सहायता करो। एक व्यक्ति अपना जीवन विद्या की उपासना मे लगा देना चाहता है। राष्ट्र उसे सेना मे भरती होने के लिए खीचता है और परिवार धनोपार्जन के लिए। एक ओर मन मे विविध प्रकार की इच्छाए उत्पन्न होती है, दूसरी ओर विवशताए है। इन आवेगों तथा निरोधो, प्रेरणाओ तथा प्रतिरोधो, कामनाओ तथा विवशताओ, आघातो तथा प्रतिघातो मे पडकर मनुष्य की स्थिरता समाप्त हो जाती है। उसकी दशा किसी विक्षिप्त के समान हो जाती है। इन्हीके सघर्ष मे उसके जीवन का अन्त हो जाता है। ऐसी परिस्थिति मे एक ऐसे तत्त्व की आवश्यकता है, जो मनुष्य की समस्त शक्तियो को केन्द्रित कर सके; जिसको आधार बनाकर परस्पर-विरोधी प्रतीत होनेवाले तत्त्वो का मूल्याकन किया जा सके, जो हमारी सारी प्रवृत्तियो तथा प्रयत्नो का लक्ष्य-बिन्दु हो, जिसके लिए सबकुछ हो, किन्तु वह स्वय किसी दूसरे के लिए न हो, जिसकी मगलमयता असदिग्ध हो, जो आदि, मध्य तथा अन्त सभी अवस्थाओ मे कल्याणमय हो, जो उत्कृष्ट मगल हो, जो स्व और पर, शत्रु और मित्र सभीके लिए शिव हो। इस तत्त्व की खोज का नाम ही धर्म है।

बृहदारण्यक उपनिषद् मे याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी का सवाद आता है। ऋषि याज्ञवल्क्य की दो पत्निया थी। घर-बार छोडकर सन्यास लेने की इच्छा से उन्होने दोनो पत्नियो को बुलाया और अपनी सम्पत्ति का विभाजन करना चाहा। कात्यायनी ने अपना भाग स्वीकार कर लिया। दूसरी पत्नी मैत्रेयी ने पूछा, "क्या मै इससे अमर हो जाऊगी ?"

"नही," ऋषि ने उत्तर दिया। "जिस प्रकार साधन-सम्पन्न श्रीमन्तो का जीवन होता है, तुम भी उसी प्रकार जी सकोगी, किन्तु धन से अमर होने की आशा नही की जा सकती।"

"तो मै इसे लेकर क्या करूगी ?" कहकर मैत्रेयी ने सम्पत्ति लेने से इन्कार कर दिया। मैत्रेयी ने माग की, "मुझे तो वही दीजिये जिससे अमर

हो सकू।" ऋषि ने अमरत्व का मार्ग बताने के लिए मैत्रेयी के लक्ष्य को आत्मा पर केन्द्रित करते हुए कहा,

"मैत्रेयी, विश्व मे जितनी वस्तुए प्रिय और सुन्दर लगती है, क्या वे अपने-आप मे प्रिय और सुन्दर है ? वे केवल इसलिए प्रिय लगती है क्योकि हमारी आत्मा को तृप्त करती है। धन धन के लिए प्रिय नही होता, किन्तु आत्मा के लिए प्रिय होता है। पत्नी पत्नी के लिए प्रिय नही होती, आत्मा के लिए प्रिय होती है। पुत्र पुत्र के लिए नही, वरन् आत्मा के लिए प्रिय होता है। विश्व मे प्रिय लगनेवाली समस्त वस्तुओ का सम्बन्ध आत्मा के साथ है। हमारे अन्दर कोई ऐसा तत्त्व है जिसे तृप्त करने के लिए हम सदैव सचेष्ट रहते है। हमे उसी तत्त्व की खोज करनी चाहिए, उसीके विषय मे जिज्ञासा करनी चाहिए और उसीका साक्षात्कार करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। हे मैत्रेयी, उस तत्त्व के जान लेने पर सबकुछ ज्ञात हो जायगा। उसे प्राप्त कर लेने पर सबकुछ प्राप्त हो जायगा। फिर न कुछ ज्ञातव्य शेप रहेगा और न कुछ प्राप्तव्य।"

याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी का उपर्युक्त सवाद एक शाश्वत प्रश्न को उपस्थित करता है, जो मूल्याकन से सम्बन्ध रखता है—ऐसा कौन-सा मापदण्ड है जिसके आधार पर सभी वस्तुओ का मूल्याकन किया जा सके ? हम देखते हैं धन, सम्पत्ति, अधिकार, प्रभुत्व, राज्य, प्रिय जन आदि वस्तुओ का महत्त्व अथवा मूल्य निरपेक्ष नही है, वह सापेक्ष है। यदि धन हमे सुख पहुचा रहा है तो वह उपादेय तथा महत्त्वपूर्ण है, किन्तु यदि उसीके कारण प्राण सकट मे पड जाय तो वह त्याज्य है। यात्री डाकुओं से घिरने पर अपनी सारी कमाई छोडकर भाग खडा होता है और प्राण बचाने की चिन्ता करता है। हमे यह जानना है कि वह मापदण्ड कौन-सा है, जिसके आधार पर इनका मूल्याकन किया जाता है; वह अपेक्षा कौन-सी है, जो इनको महत्त्व प्रदान करती है। यह निश्चित है कि उस मापदण्ड या अपेक्षा को जाने बिना मानव भटकता ही रहेगा, पद-पद पर धोखा खायेगा, उसे सत्य की प्राप्ति नही होगी जिसे प्राप्त किये बिना वह सुखी

नही हो सकता। यह भी निश्चित है कि उसे जान लेने पर उसकी सारी समस्याएं सुलझ जायगी। उसके हाथ मे एक तुलादण्ड आ जायगा। वह अपने-आपको किसी ठोस भूमि पर खडा पायेगा और सशक्त अनुभव करेगा। उसके सभी सदेह दूर हो जायगे और दूषित सस्कार धुल जायगे। उस तत्त्व की खोज का नाम ही धर्म है।

आज का मानव यह भी पूछता है कि धर्म का फल स्वर्ग बताया जाता है, जहा सभी प्रकार के भौतिक सुख है, जहा नन्दन-वन है, रत्न-मंडित विमान हैं, अप्सराए है, इत्यादि। साथ ही मरने के बाद उन सुखो की प्राप्ति के लिए वर्त्तमान जीवन मे प्राप्त सुख छोडने को कहा जाता है। जो बातें वर्त्तमान जीवन मे त्याज्य हैं, वे मरने के बाद क्यो उपादेय बन जाती हैं? यदि वे यहा पाप है तो वहा भी क्यो नही? यदि धर्म और पाप परस्पर-विरोधी है, तो धर्म का फल पाप नही हो सकता। त्याग का फल सात्त्विक आनन्द भले ही हो, भोग नही हो सकता; उत्थान का फल पतन नही हो सकता।

धर्म के नाम से चलनेवाली परम्पराओ के पास इसका कोई उत्तर नही है, क्योकि जिन धारणाओ ने इस प्रश्न को जन्म दिया, वे अपने-आप मे सत्य नही हैं। धर्म अपने-आपमे दूषित नही हो सकता। उसका वास्तविक लक्ष्य स्वस्थ व्यक्तित्व का निर्माण या आत्मा की अभिव्यक्ति है। स्वर्ग आदि तो केवल प्रलोभन-मात्र है, जो साधारण जनता मे प्रचार के लिए अपनाये जाते है।

इसी प्रकार यह धारणा भी ठीक नही है कि धर्म का फल मरने के बाद ही मिलता है। वह तो प्रतिक्षण होनेवाली आत्म-शुद्धि है, जो अपने-आप मे फल है। इससे यह न समझना चाहिए कि हम परलोक का अपलाप कर रहे हैं। जब आत्मा अमर है तो परलोक भी अवश्य है; किन्तु आध्यात्मिक प्रगति मे उसका कोई मूल्य नही है। धर्म जीवन का परिष्कार है, जो सतत होता रहता है और जिसका सात्त्विक आनन्द हमे साथ ही प्राप्त होता रहता है। धर्म वह यात्रा है जो लक्ष्य-प्राप्ति तक चलती रहती है, और इसका लक्ष्य है मुक्ति, अर्थात् ज्ञान, सुख तथा शक्ति का पूर्ण विकास।

ज्ञान, सुख तथा शक्ति के पूर्ण विकास की ओर उस दिशा मे प्रत्येक कदम हमारे सतोष और आनन्द की वृद्धि करता है और निर्मल आत्म-तत्त्व का दर्शन कराता है। फल है। ज्ञान, सुख और शक्ति विकसित व्यक्तित्व के अनिवार्य तत्त्व है। मनुष्य इन्हे ज्यो-ज्यो प्राप्त करता है, त्यो-त्यो व्यक्तित्व का विकास होता जाता है।

आध्यात्मिक यात्रा के लिए शरीर एक साधन है। जव यह साधन जर्जर हो जाता है, तो उसे छोडकर नया साधन अपना लिया जाता है। इसीका नाम मृत्यु और जन्म है। पुराने शरीर का परित्याग अर्थात् मृत्यु, और नये शरीर का स्वीकार अर्थात् जन्म, उस महान् यात्री के लिए थके हुए वाहन को छोड देने और नये सशक्त वाहन को अपना लेने के समान है।

अत. धर्म न केवल परलोक के लिए है और न केवल वर्तमान जीवन के लिए। मानव-जीवन मे उसकी आवश्यकता एव फल-प्राप्ति प्रत्येक कदम पर सन्निहित है।

वर्तमान मानव यह भी पूछता है कि धर्म की आज्ञाएं ऐसी मानी जाती है, जहा वुद्धि और तर्क के लिए स्थान नही है। वे किसी अतीन्द्रिय, मानव-वुद्धि से परे तथा कल्पनातीत शक्ति के आदेश माने जाते है और कहा जाता है कि उनमे किसी प्रकार का सन्देह करना पाप है। उन वातो का बौद्धिक परीक्षण करनेवाले को नास्तिक, मिथ्यात्वी, काफिर, ऐथिस्ट आदि शब्दो से पुकारा जाता है जोकि धार्मिक जगत् की गालिया है। यदि वास्तव मे धर्म ऐसा ही है कि उसमे वुद्धि के लिए कोई स्थान नही है, तो वह हृदय मे कैसे उतर सकेगा? उसके प्रति सच्ची निष्ठा कैसे हो सकेगी? ऐसी स्थिति में वह जीवन की वस्तु कैसे वन सकेगा?

उपर्युक्त प्रश्न एक वास्तविक तथ्य से सम्वन्ध रखता है। इस वात से इन्कार नही किया जा सकता कि धार्मिक परम्पराओ ने बुद्धि का निष्कासन करने की भरसक कोशिश की है। जिस किसीने भी अपनी बुद्धि से सोचने की चेष्टा की, धार्मिक आदेशो मे संशय प्रकट किया, पुरोहितों, पादरियो और मुल्लाओ ने विविध नाम देकर उसका वहिष्कार किया

और उचित एव अनुचित सभी उपायो से उसका दमन किया। जो क्रान्तिकारी इस दमन के सामने सघर्ष करता हुआ विजयी हुआ, वह अन्त मे अवतार मान लिया गया और उसकी अपनी परम्परा चल पडी। उसके भी अनुयायी उसी प्रकार तर्क एव वुद्धि से घृणा करने लगे। इस प्रकार हम देखते है कि प्रत्येक धार्मिक क्रान्ति ने प्रारम्भ मे तर्क और वुद्धि का आश्रय लिया, किन्तु धीरे-धीरे वही अन्धविश्वास को प्रश्रय देने लगी। धर्म अपने-आप मे तर्क अथवा वुद्धि के विरुद्ध नही है। उपनिपदो मे स्पष्ट वताया गया है कि पहले श्रवण करना चाहिए, अर्थात् शास्त्रो की वात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए, फिर मनन अर्थात् तर्क के द्वारा उसके सत्यासत्य का निर्णय करना चाहिए और जच जाने पर निदिध्यासन, अर्थात् पुन -पुन चिन्तन, द्वारा जीवन मे उतारना चाहिए। साथ ही यह चेतावनी दी है कि तर्क की सीमाओ को भी अवश्य समझ लेना चाहिए, अर्थात् जो वाते हमारी ज्ञान-शक्ति से परे हैं, उन्हे जिस प्रकार स्वीकार करना अन्ध-श्रद्धा है उसी प्रकार उनका अपलाप करना भी अनुचित है। बुद्ध ने अपने शिष्यो को स्पष्ट शब्दो मे कहा है—"भिक्षुओ, मेरे वचन को परीक्षा करके स्वीकार करना। केवल मेरे प्रति आदर-वुद्धि से नही।"

विना सोचे-समझे किसी वात को स्वीकार करना जैन धर्म मे अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व माना गया है। धर्म के प्रत्येक आदेश पर वुद्धि-पूर्वक विचार किया जा सकता है, किन्तु साथ ही इस सावधानी की आवश्यकता है कि वुद्धि अत्यन्त निर्मल होनी चाहिए। वह वस्तुलक्षी होनी चाहिए। किसी सिद्धान्त के सत्यासत्य का निर्णय करते समय यह नही सोचना चाहिए कि उसे किसने कहा है, अथवा वह हमारी स्वार्थ-सिद्धि के अनुकूल है अथवा प्रतिकूल। साधारण मानव के लिए स्वार्थ-बुद्धि एव पूर्वग्रहो से ऊपर उठना असभव नही तो कठिन अवश्य है। इसीलिए धार्मिक जगत् मे उन व्यक्तियो के निर्णयो को महत्त्व दिया जाता है, जो इन दोषो से ऊपर उठ चुके हैं। फिर भी प्रत्येक व्यक्ति को अपनी वुद्धि से निर्णय करने का पूर्ण अधिकार है। इस अधिकार का प्रयोग करते समय

उसे अपनी बुद्धि की सीमाओ को भी अवश्य समझ लेना चाहिए। वर्तमान लोकतन्त्र मे यही दोष है कि राष्ट्रीय उन्नति के महत्त्वपूर्ण निर्णय उन लोगो के हाथो मे चले जाते हैं जिनका बौद्धिक ज्ञान एव चरित्र-सम्बन्धी स्तर सदा उच्च कोटि का नही होता और निम्न कोटि का है। सत्यासत्य के निर्णय के लिए केवल सख्या को आधार मान लिया गया हैं। वास्तव में सख्या की अपेक्षा विशाल अनुभव, शास्त्रीय ज्ञान, सूक्ष्म दृष्टि, तटस्थ वृत्ति तथा बौद्धिक विकास का अधिक महत्त्व है। जहा तक सत्य के निर्णय का प्रश्न है, सौ अज्ञानी भी एक ज्ञानी की तुलना नही कर सकते। इसी आधार पर प्लेटो ने कहा है कि राज्य का सचालन तत्त्वदर्शी के हाथ मे होना चाहिए। भारत की प्राचीन परम्परा मे भी राजकीय व्यवस्था एव निर्णय ज्ञान-सम्पन्न ऋषियो के हाथ मे रहे हैं और उनकी कार्य-रूप मे परिणति सैनिक-शक्ति-सम्पन्न राजाओ के हाथ मे।

धर्म बौद्धिक परीक्षण को बन्द नही करता, किन्तु यह भी कहता है कि यह परीक्षण प्रारम्भ करने से पहले उस परीक्षण के साधन को भी जाच लेना चाहिए। किसी सूक्ष्म वस्तु को देखने का यन्त्र विकृत होगा, तो उससे वस्तु भी विकृत रूप मे दिखाई देगी। अगर आपके चश्मे पर धूल जमी हुई है तो निश्चित है कि सामनेवाली वस्तु भी मैली ही दिखाई देगी। इसी प्रकार यदि हमारी बुद्धि राग-द्वेष, पूर्व-ग्रह अथवा स्वार्थ-भावना से अभिभूत है तो सत्य का निर्णय नही कर सकती। जिन व्यक्तियो को हम अपना प्रिय समझते हैं अथवा जो वस्तु हमे अच्छी लगती है, हमे उसके दोष नही दिखाई देते। उनमे गुण ही गुण प्रतीत होते हैं। इसके विपरीत जिन्हे हम पराया या शत्रु मानते है, उनके दोष ही दोप दिखाई देते है। धर्म वह साधना है जिससे व्यक्ति इन दोषो से ऊपर उठ सके और अपनी ज्ञान-शक्ति को निर्मल बना सके।

उपर्युक्त चर्चा में हमने धर्म के उज्ज्वल रूप को उपस्थित किया, किन्तु उसका दूसरा पक्ष भी सामने रखना होगा। हम यह नही कह सकते कि आजतक धर्म के नाम पर जो कुछ हुआ है, सब या अधिकाश अच्छा ही

हुआ है । धर्म ने मनुष्य को ऊचा उठाया है, उसकी आन्तरिक समस्याओं का समाधान किया है। साथ ही यह भी मानना पडता है कि उसने मानव-विकास मे बाधाए खडी की है। धर्म का नाम लेकर मनुष्य ने खून की नदिया वहाई हैं, निर्वलो के अधिकार छीने है, विचार-शक्ति को कुठित किया है, कष्टो को कर्मो का फल बताकर प्रेरणा-शक्ति को पगु बनाया है और वैज्ञानिक विकास मे रोडे अटकाये हैं ।

वाइविल के अनुसार ईश्वर ने बिना किसी मूल तत्त्व का सहारा लिये छ. दिनो मे सारे विश्व को रचा । यह भी माना गया है कि पृथ्वी चपटी है और सूर्य उसके चारो ओर घूमता है। अन्य धार्मिक परम्पराओ मे भी इसी प्रकार की मान्यताए विद्यमान है। सोलहवी शताब्दी मे जीओडीन ब्रूनो नाम के एक विद्वान् को इसीलिए कहना पडा कि धर्म का प्रतिपाद्य विषय विज्ञान नही, वरन् आचार है। अत ग्रह-विज्ञान अथवा भौतिक विपयो मे उसकी मान्यताओ को प्रमाण नही माना जा सकता ।

इस वक्तव्य का परिणाम यह निकला कि विश्व को प्रेम का सदेश देनेवाले ईसाइयो ने ब्रूनो को जीवित जला दिया। अन्य वैज्ञानिको के साथ भी इसी प्रकार का क्रूर व्यवहार हुआ है। यह केवल एक उदाहरण है; सभी धर्मो के इतिहास मे इस प्रकार की घटनाए न्यूनाधिक रूप मे पाई जाती है। इनके दो कारण है—एक ओर धर्म-ग्रन्थ के नाम से स्वीकृत प्रत्येक पुस्तक के प्रत्येक अक्षर को ईश्वरीय, अर्थात् परमात्मा का आदेश, समझना और उन्हें विना विचारे स्वीकार करने के लिए मानव को वाध्य करना, दूसरी ओर धर्माचार्यो के हाथ मे दण्ड-शक्ति का आ जाना। इग्लैण्ड मे यह शक्ति राजसत्ता के रूप मे आई जबकि पोप का राज्य और धर्म दोनो सस्थाओ पर आधिपत्य हो गया। भारत मे यह शक्ति साम्प्रदायिक सगठन के रूप मे रही, जिसके परिणामस्वरूप साम्प्रदायिक मान्यताओ के विपरीत कहने या चलनेवाले को दण्डित किया गया। और वह दण्ड शारीरिक न होकर अधिकतर सामाजिक वहिष्कार तक सीमित रहा ।

किन्तु समय-समय पर धर्म और राज्य-सस्था का गठवधन होने पर शारीरिक दण्ड के उदाहरण भी पर्याप्त संख्या मे मिलते है ।

धर्म-सस्था को इस प्रकार की प्रतिगामी मनोवृत्ति से वचाना अत्यन्त आवश्यक है, तभी उसकी मगलमयता अक्षुण्ण रह सकती है । अब हम कुछ ऐसी बातो का उल्लेख करते है, जो धर्म के आधार पर खडी हुई और मानव की प्रगति में वाधक बन गईं ।

१ **सर्वज्ञवाद**—कोई व्यक्ति सर्वज्ञ हो सकता है या नही, यह एक अलग प्रश्न है, हम इस चर्चा मे नही पडना चाहते । मनुष्यों के ज्ञान मे तारतम्य दिखाई देता है । एक का ज्ञान दूसरे की अपेक्षा अधिक है। ऐसी स्थिति मे यह प्रश्न होता है कि उसकी पराकाष्ठा कहा है । वह पराकाष्ठा सर्वज्ञता के अतिरिक्त दूसरी नही हो सकती । इस प्रकार सर्वज्ञता का अस्तित्व मान लेने पर भी यह नही कहा जा सकता कि धर्म-ग्रन्थो का सम्वन्ध किसी ज्ञानातिशय-सम्पन्न महापुरुष के साथ जोडा जाता है। वे सव-के-सव अक्षरश. उसीकी रचना है । धर्म-प्रवर्तक के पश्चात् भी सैकड़ो वर्षों तक धर्म-ग्रन्थो की रचना होती रहती है और कुछ समय वीतने पर वे आगम या प्रवर्त्तक के वाक्य मान लिये जाते हैं । वैदिक, जैन, बौद्ध आदि भारतीय तथा ईसाई, मुसलमान आदि सभी विदेशी परम्पराओ मे इस प्रकार की धारणाए वद्धमूल है । इन ग्रन्थो मे केवल आचार ही नही, भूगोल, ग्रहविज्ञान, शरीरशास्त्र आदि वैज्ञानिक विपयो के सम्वन्ध में भी अनेक वाते मिलती हैं, जो कि तत्कालीन प्रचलित मान्यताओ का संग्रह-मात्र हैं । इन्हें सर्वज्ञ के शव्द मानकर वैज्ञानिक तथ्यों का विरोध करना उचित नही कहा जा सकता। सर्वज्ञवाद की इस परम्परा ने मानव-वुद्धि को कुण्ठित करने तथा वैज्ञानिक प्रगति मे रोडे अटकाने का प्रयत्न किया, किन्तु परिणाम विपरीत हुआ । मानव धर्म को प्रतिगामी सस्था मानकर उसकी अवहेलना करने लगा और धर्म रूढिवादियो की कल्पना-मात्र रह गया । परिणामस्वरूप सदाचार और शक्ति के मेल से मानव-कल्याण की जो आशा थी, वह नही रही । अत. धर्म-सस्था को

बौद्धिक जडता के कुसस्कारो से मुक्त करना अत्यावश्यक है, तभी वह जीवन की वस्तु बन सकती है।

हम जो कार्य करते है उसके शुभाशुभ परिणाम पर किसका नियत्रण है, इस सम्बन्ध मे तीन मान्यताए है। कुछ धार्मिक परम्पराए उसका नियत्रण ईश्वर के हाथ मे मानती है और कहती है कि जीव कर्म करने मे स्वतन्त्र है, किन्तु फल भोगने मे परतन्त्र। कुछ यह कहती है कि ईश्वर अदृष्ट के अनुसार फल देता है। कुछ पुरुषार्थ को नियामक मानती हैं। वह पुरुषार्थ दो प्रकार का है पूर्व-जन्म मे किया गया और इस जन्म मे किया गया। इस जन्म मे प्राप्त होनेवाले शुभ और अशुभ फलो के लिए पूर्व-जन्म का पुरुषार्थ उत्तरदायी है, किन्तु वर्त्तमान जीवन का पुरुपार्थ उसे बदल भी सकता है।

'योगवासिष्ठ' मे आया है कि पूर्वजन्म और इस जन्म के पुरुपार्थ मे सघर्ष चलता रहता है। जो अधिक शक्तिशाली होता है, वही जीत जाता है। व्यक्ति को पूर्व-जन्म के भरोसे न बैठकर इस जन्म के पुरुषार्थ को अधिक शक्तिशाली बनाना चाहिए। तीसरी परम्परा नियतिवादियो की है, जिनका यह कहना है कि जो कुछ होना है, होकर रहेगा। प्रत्येक व्यक्ति का भविष्य निश्चित है। मनुष्य का पुरुषार्थ कुछ नही करता। पुरुषार्थ को व्यर्थ बताते हुए वे मलूकदास के वचन दोहराते है.

अजगर करे न चाकरी, पछी करे न काम।
दास मलूका कह गए, सबके दाता राम॥

इस तृतीय मान्यता को स्वीकार करनेवाली परम्परा धार्मिक सम्प्रदाय की दृष्टि से लुप्त हो चुकी है, किन्तु भारतीय जीवन पर उसका प्रभाव अक्षुण्ण है। वैदिक, जैन तथा बौद्ध, तीनो परम्पराओ ने सैद्धान्तिक दृष्टि से पुरुपार्थ को पर्याप्त महत्त्व दिया है। यह भी कहा है कि भाग्य को पुरुषार्थ द्वारा बदला जा सकता है, फिर भी भारतवासियो मे भाग्य के भरोसे बैठे रहने की मनोवृत्ति बहुत अधिक है। एक ओर अग्रेजी की कहावत है कि ईश्वर उसकी सहायता करता है जो अपनी सहायता स्वय करता

है। दूसरी ओर भगवद्गीता में कहा है—व्यक्ति को अपना उद्धार स्वय करना चाहिए। शत्रु और मित्र हमारी आत्मा ही है। जैनियो के आचाराङ्ग तथा 'उत्तराध्ययनसूत्र' में भी ऐसे ही विचार मिलते है। दूसरी ओर वह परम्परा भी है, जो स्वय निर्बल होकर सबकुछ ईश्वर के हाथ मे छोड़ देने को कहती है। सूरदास का भजन लोगो की जिह्वा पर चढा हुआ है। उसमे राम को निर्बल का बल बताया गया है। उदाहरण के रूप में गज-मोक्ष की घटना का निर्देश करते हुए कहा है—जबतक हाथी अपना बल काम मे लाता रहा, काम न बना। जैसे ही उसने अपना बल छोड़कर भगवान के बल का सहारा लिया, आधा नाम अर्थात् 'रा' का उच्चारण करते ही भगवान् दौड़े चले आए। इसकी व्याख्या अहकार या अस्मिता आदि का नाश करने के रूप मे की जाती है, किन्तु सीधा असर भगवान् के भरोसे बैठे रहने का होता है। इस प्रकार बैठे रहनेवालों की सख्या भारत मे बहुत बडी है। रोग हुआ तो चिकित्सा पर ध्यान न देकर उसे भगवान् का कोप समझकर स्वीकार कर लिया जाता है। परीक्षा, व्यापार तथा अन्य सभी कार्यो मे असफलता के लिए उसका वास्तविक कारण नही ढूढा जाता, वरन् परमात्मा अर्थात् भाग्य को कोसा जाता है। यह मनोवृत्ति किसी भी उदीयमान राष्ट्र के लिए हितकर नही है। इससे आलस्य और अकर्मण्यता की वृद्धि होती है। धार्मिक परम्पराओं को इस दूषित प्रभाव से मुक्त करने की आवश्यकता है।

धार्मिक परम्पराओ ने परलोक को सुधारने पर इतना महत्त्व दिया कि वर्त्तमान जीवन की उपेक्षा होने लगी। परिणामस्वरूप अहिसा, सयम, तप आदि धर्म के जो रूप हैं उनमे भी विकृति आ गई है। धर्माचरण के नाम से अपने पारिवारिक एव सामाजिक उत्तरदायित्व को छोड़ना किसी प्रकार उचित नही है। अपने जीवन का बोझ दूसरे पर डालना भी हिसा ही है। जो व्यक्ति समस्त भौतिक सुखों को ठुकराकर परम तत्त्व की उपासना मे अपना सारा जीवन लगा देना चाहता है, उसकी बात दूसरी है। उसका अस्तित्व एवं जीवन समाज के लिए प्रदीप का कार्य करता है। समाज के

लिए उसकी देन शाश्वत एवं सर्वोपरि है। किन्तु अपने सुख के लिए प्रयत्न करना, समस्त सुख-सुविधाओं को अपने तक सीमित रखना और अपने उत्तरदायित्व को दूसरे पर डालना अहिंसा नहीं है। धर्म उत्थान का मार्ग है, जिसकी प्रत्येक पद पर आवश्यकता है। केवल परलोक को महत्त्व देना एकांगी दृष्टि है। धार्मिक परम्पराओं ने परलोक में सभी अतृप्त कामनाओं की पूर्ति का जो प्रलोभन दिया, उसके परिणामस्वरूप व्यक्ति मन में कामनाएं लेकर परलोक की आशा लगाये धर्म का आराधन करता रहा। यह स्वस्थ दृष्टिकोण नहीं है। धर्म-संस्था को वर्तमान जीवन के सुधार पर बल देना चाहिए, परलोक फिर अपने-आप सुधर जायगा।

: ८ :

धर्म और व्यक्तित्व

जब हम किसी नये व्यक्ति से मिलते है तो परिचय प्राप्त करने के लिए पूछते हैं—आप कौन है ? इस प्रश्न का उत्तर अनेक रूपो मे मिलता है। कोई कहता है—मै ब्राह्मण हू। दूसरा कहता है—मै अध्यापक हू। तीसरा कहता है—मै अमुक सभा का अध्यक्ष हू। चौथा कहता है—मै गरीब हू। पाचवा कहता है—मै बीमार हू। छठा कहता है—अन्धा हू। इस प्रकार अनेक उत्तर प्राप्त होने पर भी व्यक्ति अपने-आप मे क्या है, यह प्रश्न अधूरा ही रह जाता है। पहले व्यक्ति ने यह कहा कि उसका जन्म ऐसे कुल मे हुआ है, जो ब्राह्मण वर्ण से सम्बन्ध रखता है। किन्तु यह तो उसके व्यक्तित्व की एक घटना है। वह कौन-सा तत्त्व है, जिसका जन्म हुआ है और जिसका अस्तित्व आज तक विद्यमान है ? इसी प्रकार दूसरे व्यक्ति ने अपना धधा बताया। किन्तु यदि वह उस धन्धे को न करता, तो क्या कुछ न रहता ? तीसरे ने अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा बताई और यह प्रकट किया कि वह एक प्रतिष्ठित व्यक्ति है। चौथे ने आर्थिक स्थिति प्रकट की, पाचवे ने शारीरिक स्थिति और छठे ने ज्ञानेन्द्रिय की न्यूनता। किसीने भी अपना वास्तविक रूप नही बताया। वे अपने-आपमे क्या है, यह प्रश्न तो खडा ही रह गया। लेकिन हम यह भी नही कह सकते कि ये सारे उत्तर मिथ्या है। सभीमे सत्य का अश विद्यमान है।

दूसरो के उत्तर छोड़कर हम अपने-आपसे प्रश्न करे—हम क्या है ? अन्दर से उत्तर मिलता है—हम क्रोधी है, हम बुद्धिमान् है, हम मोटे हैं, हम नेता है, इत्यादि। ये सभी उत्तर हमारे व्यक्तित्व के भिन्न-भिन्न पहलुओं से सम्बन्ध रखते है। क्रोध हमारी आत्मा से सम्बन्ध रखता है, बुद्धि मन से,

मुटापा शरीर मे और नेतृत्व सामाजिक प्रतिष्ठा से। इस प्रकार हम देखते है कि आत्मा, मन, इन्द्रिया, शरीर, समाज मे आदर, हमारा व्यवहार, हमारी आदतें, धन-सम्पत्ति, परिवार, मित्र-वर्ग आदि सभी बातो का हमारे व्यक्तित्व मे स्थान है।

इनमे से कुछ बाते आभ्यन्तर और अनिवार्य है। उनके न होने पर दूसरी सब बातें व्यर्थ हो जाती हैं। उदाहरण के रूप मे जो व्यक्ति क्रोधी, चिड़चिडा, सदेहशील, आलसी, मिथ्याभिमानी या अत्यन्त स्वार्थी है उसे धन, सम्पत्ति, परिवार आदि सुखी नही बना सकते। उसके सद्गुण भी दुर्गुण के रूप में परिणत हो जाते हैं। इसके विपरीत जो व्यक्ति क्षमाशील, प्रसन्न रहनेवाला, दूसरो पर विश्वास रखनेवाला, परिश्रमी, नम्र तथा उदार है वह कठिनाइयों को सरलता से पार कर लेता है। शत्रु भी उसके मित्र बन जाते हैं। समाज मे उसकी प्रतिष्ठा बढती है। सम्पत्ति या किसी अन्य वस्तु का अभाव उसे दु खी नही कर सकता। वह सभी परिस्थितियो मे सुखी एव प्रसन्न रहता है। इन गुणो के विकास का नाम धर्म है।

आभ्यन्तर व्यक्तित्व से सम्बन्ध रखनेवाले मुख्यतया तीन तत्त्व हैं—आत्मा, मन और शरीर। जिस व्यक्ति की आत्मा स्वस्थ है, मन स्वस्थ है, और शरीर स्वस्थ है, वह बाह्य साधनो के बिना भी सुखी है। इन तीन तत्त्वो मे भी आत्मा का स्वास्थ्य सबसे अधिक महत्त्व रखता है। उसके बिना मन स्वस्थ नही रह सकता और मन के स्वस्थ हुए बिना शारीरिक स्वास्थ्य व्यर्थ है। प्राचीन ऋषि-मुनियों ने आत्मा और मन के स्वास्थ्य पर बहुत अधिक बल दिया है। जिस व्यक्ति का रहन-सहन नियमित और सयत है, उसका शरीर अपने-आप स्वस्थ रहता है। उसे उसकी चिन्ता नही करनी पडती। किन्तु वर्त्तमान परिस्थिति को देखते हुए हमे तीनो का ध्यान रखने की आवश्यकता है।

ऊपर बताया गया है कि हमारे व्यक्तित्व के तीन आवश्यक अङ्ग है—शरीर, मन और आत्मा। इनमें से किसीका दूषित या निर्बल होना व्यक्तित्व को दुर्बल बना देता है। शरीर की दुर्बलता का व्यक्तित्व पर कितना

प्रभाव पडता है, यह सर्व-विदित है। व्यक्तित्व की दृष्टि से शारीरिक बल का अर्थ पहलवानी नही है । यहा बल का अर्थ है प्रभावशाली आकृति, घण्टो परिश्रम करने पर भी थकावट का न आना, सर्दी-गर्मी आदि विषम परिस्थितियो मे सहनशीलता एव नीरोग रहना। जो व्यक्ति साधारण से परिश्रम मे थक जाता है, जलवायु तथा ऋतुओ की तनिक-सी प्रतिकूलता मे रोगी हो जाता है, थोडी देर के लिए भी भूख-प्यास आदि कठिनाइयो को नही सह सकता, जिसके मुख पर ओज नही है, उसका व्यक्तित्व शारी-रिक दृष्टि से निर्बल है ।

मानव-जीवन मे जो महत्त्वपूर्ण स्थान मानसिक तथा आध्यात्मिक बल का है, वह शारीरिक बल का नही । उपनिषदो मे आया है व्यक्ति को सदाचारी, अध्ययनशील, आशावादी, दृढ, निष्ठावान् तथा बलवान् बनना चाहिए। उसके लिए यह सारी पृथ्वी धन-धान्य से परिपूर्ण है। वह अपनी समस्याओ को स्वय सुलझा लेता हे ।

मानसिक और आध्यात्मिक दुर्बलता को दो भागो मे बाटा जा सकता है : १. निष्ठा-दौर्बल्य, २ चरित्र-दौर्बल्य ।

निष्ठा-दौर्बल्य का अर्थ है विपरीत श्रद्धा, अश्रद्धा या दुर्बल श्रद्धा । विपरीत श्रद्धा का अर्थ है असत्य मे विश्वास । यह भी दो प्रकार का हो सकता है . १. लक्ष्य का असत्य होना; २. मार्ग का असत्य होना । दोनो स्थितियो में व्यक्ति अपने ध्येय को नही प्राप्त कर सकता । अश्रद्धा का अर्थ है किसी भी बात में विश्वास या निष्ठा का न होना, सन्देहशीलता। ऐसा व्यक्ति न कही सफलता प्राप्त कर सकता है, न सुखी हो सकता है। उसके लिए जीवन भय, आशका तथा निराशा से परिपूर्ण है। तीसरा रूप है श्रद्धा का दृढ न होना । ऐसी स्थिति मे विश्वास शाब्दिक चर्चा तक सीमित रह जाता है, वह जीवन का अग नही बनता। धार्मिक जगत् मे अश्रद्धा के इन रूपो को 'मिथ्यात्व' कहा जाता है। इसके पाच भेद है—

१. आभिग्रहिक—सत्य को किसी स्वार्थ की पूर्त्ति के लिए स्वीकार करना आभिग्रहिक मिथ्यात्व है। व्यक्ति जब धन, ऐश्वर्य, यश,

अथवा अन्य किसी सासारिक कामना से प्रेरित होकर धर्म को स्वीकार करता है तो इस श्रेणी में आता है। स्वर्ग के सुखो के लिए किया गया धर्म का आराधन भी इसीके अन्तर्गत है। जहा धर्म का आराधन भौतिक सुख के लिए किया जाता है, वहा धर्म अपने-आपमे लक्ष्य नही रहता। वह साध्य न रहकर साधन बन जाता है। इसी प्रकार प्रत्येक लक्ष्य के लिए कहा जा सकता है। राजनीति का उद्देश्य है राष्ट्र की सेवा तथा देश की उन्नति। जब उस उद्देश्य को छोडकर अधिकार प्राप्त करने अथवा सत्ता-लोलुपता के लिए देश-सेवा का चोगा पहना जाता है, विद्याध्ययन को सत्य की खोज के लिए नही वरन् धन-प्राप्ति या अन्य किसी लक्ष्य के लिए अपनाया जाता है, वहा यही मिथ्यात्व समझना चाहिए।

२ **अनाभिग्रहिक**—जब व्यक्ति बिना सोचे-समझे, बिना परीक्षा किये किसी सिद्धान्त को अपनाता है तो वह अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व है। अशिक्षित जनता मे प्राय यह मिथ्यात्व पाया जाता है। अथवा राष्ट्रीयता आदि से प्रेरित होकर किसी सिद्धान्त को स्वीकार करना भी इसी मिथ्यात्व मे सम्मिलित है।

३ **आभिनिवेशिक मिथ्यात्व**—जब व्यक्ति अपने मन्तव्य को असत्य समझते हुए भी उसे नही छोडता, दुराग्रह के कारण उसे पकडे ही रहता है, तो वह आभिनिवेशिक मिथ्यात्व है। बहुत-से प्रतिष्ठा-प्राप्त धर्मोपदेशक अपनी भूल ज्ञात होने पर भी उसे नही सुधारते और वही पुराना उपदेश दिये चले जाते हैं। अपनी गलती स्वीकार करने मे उन्हें अपनी प्रतिष्ठा चली जाने का भय लगा रहता है। मिथ्या-अस्मिता उन्हें सत्य पर नही आने देती। इसी प्रकार हानिकारक सिद्ध होने पर भी किसी परम्परा को कुल अथवा जाति के अभिमान मे आकर पकडे रहना भी आभिनिवेशिक मिथ्यात्व है।

४ **सांशयिक**—जब व्यक्ति किसी निश्चय के बिना दोनो ओर झूलता रहता है, तो यह साशयिक मिथ्यात्व है। ऐसा व्यक्ति क्रियाशील नही होता।

५. **अनाभोग-मिथ्यात्व**—इसका अर्थ है, ज्ञान-शक्ति की कमी

के कारण सत्यासत्य का भान ही न होना। यह मिथ्यात्व बौद्धिक दृष्टि विकसित जीवों में पाया जाता है।

व्यक्तित्व की दूसरी दुर्बलता चरित्र से सम्बन्ध रखती है। इसके दो पक्ष हैं—

१. जो कार्य व्यक्तित्व-विकास के लिए आवश्यक हैं, उन्हें न करना; तथा

२. जो व्यक्तित्व-विकास में बाधक हैं, उन्हें न छोडना।

भारतीय धर्मों का दृष्टिकोण है कि मनुष्य अपने-आप में पूर्ण है। उसके लिए बाहर जाने की आवश्यकता नहीं है। वह पूर्णता बाह्य प्रभावों के कारण दब गई है। उसको विकसित करने के लिए उन प्रभावों से मुक्त होने की आवश्यकता है। मुक्ति के इसी प्रयत्न का नाम चरित्र है। यद्यपि इसमें करना और छोडना दोनों पक्ष हैं; तथापि करने की अपेक्षा छोडने का पक्ष अधिक महत्त्वपूर्ण है। करना भी छोडने के लिए ही है। पूर्णता वहाँ है जहाँ सबकुछ छोड दिया जाता है। चरित्र-सम्बन्धी दुर्बलता के चार भेद हैं—

१. अविरति—इसका अर्थ है जीवन में अनुशासन का अभाव। जो कार्य पतन की ओर ले जानेवाले हैं, उन्हें न करने का दृढ निश्चय व्यक्तित्व का आवश्यक अंग है। बहुत-से कार्य ऐसे होते हैं जिन्हें करने का अवसर नहीं आता, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि हमने उन्हें छोड दिया है। प्रसंग आने पर हम प्रलोभन को नहीं रोक पाते और उन्हें करने के लिए तैयार हो जाते हैं। इससे पतन की सम्भावना बनी रहती है। यह भी दुर्बलता है। व्यक्ति को ऐसे सभी कार्यों के न करने का दृढ संकल्प कर लेना चाहिए, जिससे प्रसंग आने पर भी उधर झुकाव न हो। अपनी स्वार्थ-पूर्ति तथा सुख-सुविधाओं के क्षेत्र की मर्यादा बना लेनी चाहिए और उस मर्यादा को यथाशक्य संकुचित करते जाना चाहिए। इस प्रकार जीवन को उत्तरोत्तर कठोर अनुशासन की ओर ले जाना व्यक्तित्व को बनाता है। इसके बिना शिथिल जीवन व्यक्तित्व की दुर्बलता है।

२. प्रमाद का अर्थ है असावधानी। व्यक्ति को अपने कर्मक्षेत्र मे सदा जागरूक रहना चाहिए। लिये हुए व्रतो मे किसी प्रकार की स्खलना (शिथिलता) नही आने देनी चाहिए। इन्द्रिय-लोलुपता, असावधानी, मदिरा-पान आदि सभी प्रकार की स्खलना व्यक्तित्व की दुर्बलता है।

३ कषाय—क्रोध, मान, माया, लोभ आदि मनोवेग कषाय कहलाते है। इनके वशीभूत होकर व्यक्ति अपने कर्त्तव्य को भूल जाता हैं। साधना-शील व्यक्तित्व के लिए इनपर विजय प्राप्त करना अनिवार्य है। ज्यो-ज्यो इनका शमन होता है, व्यक्तित्व ऊचा उठता जाता है।

४ योग—योग का अर्थ है मन, वचन और काय की प्रवृत्ति। यह बताया जा चुका है कि व्यक्तित्व की पूर्णता वहा होती है जहा सभी प्रवृत्तिया रुक जाती है, जहा कुछ भी कर्त्तव्य शेष नही रहता। इस दृष्टि से योग अर्थात् प्रवृत्तिमात्र दुर्बलता है। किन्तु सर्वसाधारण की दृष्टि से इसका अर्थ अशुभ-प्रवृत्ति किया जाता है। हमारा मन, हमारी वाणी और हमारा शरीर सभीका झुकाव शुभ कार्यो की ओर होना चाहिए। उनका अशुभ की ओर जाना व्यक्तित्व की दुर्बलता है। जैन-परम्परा मे मिथ्यात्व को मिलाकर इन पाचो को आस्रव कहा गया है; अर्थात् वे ऐसे द्वार हैं जिनसे आत्मा मे मलिनता आती है। महर्षि पतञ्जलि ने अपने योगशास्त्र मे इन्हें 'क्लेश' शब्द से प्रकट किया है। भक्ति, ज्ञान या निष्काम कर्म के रूप मे साधना की जो पद्धतिया विभिन्न धर्मो ने बताई हैं, सबका लक्ष्य इन्ही दुर्बलताओ को दूर करना है।

व्यक्तित्व-विकास के लिए ध्येय की एकाग्रता भी अत्यन्त आवश्यक है। चचलता सफलता मे बहुत बडी बाधक है। वर्त्तमान मानव इसीके कारण दुर्बल है। वह अपनी निष्ठा खो चुका है। वह एक ऐसी कठपुतली के समान है जो अनेक धागो से बधी है और जिसे चारो ओर से खीचा जा रहा है। इन आकर्षणो मे परस्पर कोई सगति नही है। कठपुतली हाथ हिला रही है, पैर भी पटक रही है, किन्तु उनमे परस्पर किसी प्रकार का मेल नही है। मानव नृत्य करने का दिखावा कर रहा है किन्तु ताल, लय

तथा मृदग की ध्वनि आदि किसीकी आपस मे सगति नही है। वह बेसुरा राग अलाप रहा है और अनाडी की तरह पैर पटक रहा है। बिना लगर के जहाज के समान तरगो मे बह रहा है। एक आघात से इधर आ जाता है, दूसरे आघात से उधर चला जाता है। व्यक्ति को बाधनेवाले ये डोरे दो प्रकार के है—१ वैयक्तिक २ सामाजिक। शरीर को स्वस्थ रखने के लिए व्यक्ति को नियमित तथा पौष्टिक भोजन की आवश्यकता है किन्तु जिह्वा-लोलुपता ऐसे भोजन के लिए प्रेरित करती है जो स्वास्थ्य के लिए हानि-कारक है। इस प्रकार हमारे रहन-सहन, वेष-भूषा, महत्त्वाकाक्षाए तथा अन्य सभी वस्तुओ मे एक प्रकार का द्वन्द्व चलता रहता है। एक ओर बुद्धि स्वहित का ध्यान रखने के लिए कहती है, दूसरी ओर मन अनर्गल इच्छाओ की पूर्ति के लिए विवश करता रहता है। ज्यो-ज्यो प्रलोभन बढते है, लिप्साए तथा कामनाए अपनी ओर खीचती है, बुद्धि अथवा विवेक-शक्ति निर्बल होती जाती है और बुद्धि-रूपी सारथि के हाथ से मन-रूपी लगामें छूट जाती है। इन्द्रिय-रूपी घोडे उच्छृङ्खल होकर भागने लगते है और रथ को नष्ट करके ही विश्राम लेते हैं। इस प्रकार व्यक्तित्व उत्तरोत्तर दुर्बल तथा क्षीण होता जाता है।

बन्धनो का दूसरा वर्ग समाज से सम्बन्ध रखता है। एक ही व्यक्ति अपनी प्रतिदिन की सुख-सुविधा के लिए परिवार का सदस्य है, कौटुम्बिक सम्बन्धो के लिए जाति का, आजीविकोपार्जन के लिए सह-कर्मियो का, मनोविनोद के लिए क्लब का, अस्मिता का पोषण करने के लिए किसी सामाजिक सस्था का तथा अधिकार-प्राप्ति के लिए राजनीतिक दल का। विभिन्न स्वार्थों की पूर्ति के लिए उसे परस्पर-विरोधी दिशा मे चलनेवाले अनेक सगठनों का सदस्य बनना पड़ता है और प्रत्येक सगठन मे जाकर वह उसके प्रति अपनी पूर्ण निष्ठा प्रकट करता है। जब स्वार्थों का परस्पर-सघर्ष होता है, तो उसे नही सूझता कि किसके प्रति निष्ठा बनाये रखे और किससे झगडा मोल ले। एक ओर परिवार उचित अथवा अनुचित सभी उपायो से सुख-सुविधाए जुटाने के लिए कहता है, दूसरी ओर

राष्ट्र देश की प्रगति के लिए सबकुछ त्याग देने को कहता है। एक ओर शारीरिक तथा पारिवारिक सुख है, दूसरी ओर कीर्ति तथा अधिकार का प्रलोभन, वह निर्णय नही कर पाता कि किसको प्राथमिकता दे।

परिवार, समाज व राष्ट्र के प्रति परस्पर-विरोधी कर्त्तव्यो, आवश्यकताओ, इच्छाओ, महत्त्वाकाक्षाओ इत्यादि के आघातो प्रतिघातो के कारण मानव की शक्ति व्यर्थ जा रही है। वह दिग्भ्रान्त हो गया है और जैसे-तैसे जीवन पूरा करना चाहता है। इन परस्पर-विरोधी तत्त्वो में सामजस्य का मार्ग दिखाकर निराशा दूर करना ही धर्म का काम है। धर्म मानव की विशृखलित शक्तियों को एक सूत्र में पिरोकर शक्तिशाली व्यक्तित्व का निर्माण करता है। वह उसे ऐसा लक्ष्य प्रदान करता है, जिसके सामने रहने पर मानव कभी पथभ्रष्ट या भ्रान्त नही हो सकता। उस तत्त्व को सभी प्रयत्नो एव महत्त्वाकाक्षाओ के मूल्याकन का मापदण्ड बनाया जा सकता है। जो उसके अनुकूल है, उसकी प्राप्ति मे सहायक है, वह उपादेय है और जो उसके प्रतिकूल है, उसकी प्राप्ति मे बाधक है, वह हेय है। इस प्रकार मानव को एक स्पष्ट दृष्टि मिल जाती है। इसीको सम्यक् दर्शन या सम्यक् दृष्टि कहा जाता है।

भगवद्गीता में भगवान् कृष्ण अर्जुन से कहते है—"हे अर्जुन, मुझे स्मरण रखो और सघर्ष करते चले जाओ, फिर घबराने की आवश्यकता नही है। हे अर्जुन, यह निश्चित समझो कि मेरा भक्त कभी पथ-भ्रष्ट नही होता।" वास्तव मे जिस व्यक्ति ने परमात्मा को अपना लक्ष्य बना लिया है वह कभी भटक नही सकता। उसके समक्ष सदा प्रदीप प्रज्वलित रहता है और उसके पथ को प्रकाशित करता रहता है। पथ-प्रकाशन की इसी क्रिया को परमात्मा की करुणा या कृपा कहा जाता है। ज्ञान-मार्गी उसे प्रकाश के रूप मे ग्रहण करता है, योगी अथवा ध्यान-मार्गी समाधि के आलबम्न के रूप मे और भक्त दयालु करुणासागर के रूप मे।

समस्त धार्मिक परम्पराओ मे दीक्षा को बहुत महत्त्व दिया गया है। जब व्यक्ति सासारिक कामनाओ एव महत्त्वाकाक्षाओ के जगल मे भटकना

छोडकर किसी एक ही तत्त्व को अपना लक्ष्य बना लेता है और उसीकी प्राप्ति में अपनी सारी शक्तिया लगाने का प्रण करता है तो उसे दीक्षित कहा जाता है। लक्ष्य की इस स्थिरता का अर्थ है बिखरे हुए व्यक्तित्व को सुसगठित करना, उसे एक सूत्र मे पिरोना। व्यक्तित्व को सुसगठित करने का निश्चय ही धर्म की पहली सीढी है और वही सफलता का प्रथम सोपान।

धर्म सफल व्यक्तित्व के लिए तीन तत्त्वो को प्रस्तुत करता है। वे है—श्रद्धा, ज्ञान और क्रिया। श्रद्धा का अर्थ है लक्ष्य के प्रति एकनिष्ठता। उसमे पूर्ण विश्वास। जीवन में उसको सर्वोपरि स्थान देना। उसकी प्राप्ति के लिए अन्य सभी इच्छाओ, कामनाओ, महत्त्वाकाक्षाओ तथा पूर्वग्रहो के त्याग की तत्परता उस लाभ को सबसे बडा लाभ मानना। इसीलिए गीता मे कहा है "इसे प्राप्त करके भक्त अन्य किसी लाभ को इससे अधिक नही मानता।"

श्रद्धा के तीन तत्त्व है—लक्ष्य, मार्गदर्शक और मार्ग। इन्ही तीनो को देव, गुरु और धर्म शब्द से प्रकट किया जाता है। देव वह अवस्था है, जहा पहुचने पर यात्रा पूरी हो जाती है, जो साधना का लक्ष्य है, जो आदर्श है, जो प्रकाश-स्तम्भ है, जो अधेरे मे भटकने से बचाता है। गुरु अनुभवी साधक को कहा जाता है जो अपने अनुभवो तथा उपदेशो द्वारा लक्ष्य को प्रकट करता रहता है। मार्ग मे आनेवाली उलझनो को सुलझाता है, समस्याओ का समाधान करता है तथा आगे-आगे चलकर पथ को प्रशस्त बनाता जाता है।

गुरु तत्त्व-साधना के पथ पर पैर रखनेवाले जिज्ञासु और परमात्मा के वीच की कडी है। वह केवल उपदेश ही नही देता, अपितु स्वय वैसा आचरण करके शिष्य के सामने उदाहरण प्रस्तुत करता है।

तीसरा तत्त्व मार्ग है जो साधना के विधि-विधानो, प्रक्रियाओ तथा प्रगति के विविध रूपो मे प्रकट किया जाता है। श्रद्धा या सम्यक् दृष्टि को अपनानेवाला व्यक्ति यह घोषणा करता है कि आज से मै सासारिक उलझनो से मुक्त होकर विकास की चरम सीमा पर पहुचे हुए, राग-द्वेष, मोह आदि दुर्बलताओ से ऊपर उठे हुए परमात्मा को अपना देव अर्थात्

पूजनीय और आदर्श मानूगा। सच्चे साधको को अपना गुरु तथा जिस मार्ग पर स्वय चलकर उन्होने जीवन के चरम लक्ष्य को प्राप्त किया है, उसी मार्ग को अपना मार्ग समझूगा।

व्यक्तित्व के विकास का दूसरा तत्त्व ज्ञान है। इसका अर्थ है सत्य की खोज। सत्य ज्ञान का अर्थ है, वस्तु जैसी है, उसे वैसी ही समझना। मोहान्ध माता अपने पुत्र के दोष वास्तविक होने पर भी उन्हे स्वीकार करने के लिए तैयार नही होती। जिस स्त्री से उसकी लडाई है उसका पुत्र चाहे निर्दोष हो, फिर भी उसपर दोषारोपण करने की चेष्टा करती है। इस प्रकार पद-पद पर देखा जाता है कि हमारे निर्णय वस्तु-लक्षी न होकर पूर्व ग्रहो, जमी हुई धारणाओ एव अन्य सस्कारो के कारण स्वलक्षी बन जाते है। अपनी जमी हुई धारणाओ से विपरीत मान्यता रखनेवाले व्यक्ति को मिथ्यात्वी या झूठा कहते हुए हमे कोई सकोच नही होता। यह हमारे व्यक्तित्व की दुर्बलता है। हम अपनी मान्यता को जितना महत्त्व देते है, उतना ही महत्त्व दूसरे की मान्यता को भी देना चाहिए। निष्पक्ष होकर दोनो के सत्यासत्य का निर्णय करना चाहिए और झूठी होने पर अपनी मान्यताओ को भी तुरन्त छोडने की तैयारी रखनी चाहिए।

तीसरा तत्त्व चरित्र है। केवल विश्वास करने या जान लेने मात्र से मनुष्य को सफलता नही मिलती। प्रत्येक सिद्धान्त को जीवन मे उतारने की आवश्यकता है और इसीका नाम चरित्र है। इसकी पूर्त्ति होने पर ही व्यक्तित्व की पूर्त्ति होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विशृंखलित व्यक्तित्व को सुसंगठित एव सुदृढ बनाना तथा उसे विकास की चरम सीमा पर पहुचा देना ही धर्म का लक्ष्य है। यह ऐसी वस्तु नही है, जिसकी आवश्यकता केवल परलोक या अगले जन्म के लिए हो। हमे पद-पद पर, प्रगति के प्रत्येक कदम पर, जीवन के प्रत्येक क्षण मे, इसकी आवश्यकता है। यही एक तत्त्व है, जो जीवन की कडियो को जोड़ता है और हमे अशक्ति से शक्ति की ओर, अधेरे से प्रकाश की ओर तथा कष्टो से आनन्द की ओर ले जाता है।

खण्ड २

: १ :

धर्म का स्वरूप

धर्म की परिभाषा अनेक प्रकार से की जाती है। इस विस्तार मे जाने से पहले विभिन्न परम्पराओ का जीवन के प्रति जो दृष्टिकोण है, उसे समझना आवश्यक है। विश्व की धार्मिक परम्पराओ को स्थूल रूप मे तीन भागो मे विभक्त किया जा सकता है। कुछ का उद्गम भारत मे हुआ, उन्हे हम भारतीय परम्पराओ के नाम से कहेगे। यहूदी, ईसाई तथा मुस्लिम परम्पराओ का जन्म मिस्र मे हुआ, इन्हे सेमेटिक परम्पराए कहा जायगा। इसके अतिरिक्त कुछ परम्पराएं चीन मे उत्पन्न हुई हैं। भारतीय या आर्य परम्पराओ मे मानव या प्रत्येक प्राणी अपने-आप मे मगलमय है। वह ज्ञान, सुख तथा शक्ति का पुज है, किन्तु बाह्य तत्त्व उसके स्वाभाविक रूप को दबाये हुए हैं। धर्म वह प्रयत्न है, जिसके द्वारा हमारे स्वरूप को मलिन करनेवाले तत्त्वो से हमें छुटकारा मिल सके। परन्तु सेमेटिक परम्पराओ मे मानव अपने-आप मे दुष्ट माना जाता है। आसुरी वृत्ति उसका स्वाभाविक रूप है और दैवी कृत्रिम या वैभाविक। आसुरी वृत्ति को दबाये रखने के लिए उन्होने ऐसी शक्ति की कल्पना की जो मनुष्य को सदा डराती रहती है और पाप करने से रोकती है। उनकी दृष्टि मे धर्म का अर्थ है उस शक्ति को प्रसन्न करने के लिए किये जानेवाले प्रार्थना आदि प्रयत्न। वहां व्यक्ति सदा भय-भीत, कापता हुआ और पश्चात्ताप करता हुआ उस महाशक्ति का आह्वान करता है और अपने पापो के लिए गिडगिडाता हुआ क्षमा मागता है। चीनी परम्पराओं ने अतीन्द्रिय तत्त्वो को महत्त्व नही दिया। उन्होने सामाजिक व्यवस्था पर बल दिया, और इसके लिए राजा और प्रजा, पिता और पुत्र, पत्नी

और पति, भाई और बहन, स्वामी और सेवक आदि के पारस्परिक सम्बन्धों को सुधारने पर बल दिया। कुछ परम्पराओ की मान्यता है कि यदि समाज सुधर गया तो व्यक्ति अपने-आप सुधर जायगा। इसके विपरीत अन्य परम्पराओ का कथन है कि हमे व्यक्ति को सुधारने का प्रयत्न करना चाहिए, समाज अपने-आप ठीक हो जायगा। कुछ परम्पराओ ने अभ्युदय, अर्थात् भौतिक समृद्धि एव ऐहिक सुख पर बल दिया। कुछ ने उन्ही सुखो का मरने के बाद प्रलोभन दिया और व्यक्ति को सुधारना चाहा। इसके विपरीत अन्य परम्पराओ ने समस्त भौतिक सुखो को हेय बताया और इन बन्धनो से छुटकारा ही जीवन का लक्ष्य माना।

अन्य परम्पराओ ने अभ्युदय और नि श्रेयस्, अर्थात् भौतिक एव आध्यात्मिक दोनो प्रकार के सुखो को धर्म का ध्येय बताया। कुछ परम्पराओ ने सामाजिक अनुशासन पर बल दिया, और कुछ ने वैयक्तिक अनुशासन पर। इस दृष्टि-भेद के कारण धर्म की परिभाषा अनेक प्रकार से की गई। अनेक परम्पराओ का उदय प्रचलित परम्पराओ की प्रतिक्रिया के रूप मे भी हुआ। जब प्रचलित परम्परा एकागी बन गई और उसने जीवन के दूसरे पक्ष की अवहेलना प्रारम्भ कर दी, तो उसकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया हुई। इस प्रतिक्रिया के फलस्वरूप जिस धर्म का उदय हुआ, उसने द्वितीय पक्ष पर अधिक बल दिया। अन्त मे जाकर दोनो का समझौता हुआ और एक नई परम्परा ने जन्म ले लिया। इस क्रिया, प्रतिक्रिया तथा समन्वय का इतिहास अत्यन्त मनोरजक है।

दृष्टि-भेद के अतिरिक्त लक्ष्य-भेद भी धर्म की विभिन्न परिभाषाओ का नियामक तत्त्व रहा है। उसे निम्नलिखित चार श्रेणियो मे विभक्त किया जा सकता है।

१ **अतीन्द्रिय शक्तिमूलक**—प्राय देखा गया है कि मानव सुखी अवस्था मे अपने-आपको शक्ति-सम्पन्न तथा सामर्थ्यवान् मानता है। उस समय प्राप्त समस्त सुखो को अपने ही पुरुषार्थ का फल समझता है, किन्तु दु ख मे पडने पर अपनेको असहाय तथा निर्बल मानने लगता

है। जब धन-सम्पत्ति, कुटुम्ब-परिजन आदि दृश्यमान सहायको से निराश हो जाता है, तो किसी अदृश्य शक्ति से सहायता मागता है। इस प्रकार हम देखते है कि अतीन्द्रिय शक्तियो की सर्व-प्रथम कल्पना असहाय के सहायक या दु खत्राता के रूप मे हुई। कही पर दु ख को उसी शक्ति का प्रकोप माना गया और उससे अपना प्रकोप शान्त करने की प्रार्थना की गई। हम ऊपर लिख चुके है कि सेमेटिक परम्पराओ मे ईश्वर का अस्तित्व इसी रूप मे आया। वैदिक आर्यो ने आधी-तूफान, बाढ, दावानल, महामारी आदि उपद्रवों को शक्तियो का प्रकोप माना। प्रत्येक उपद्रव की अधिष्ठात्री किसी महाशक्ति की कल्पना की और उसकी पूजा एव प्रार्थना प्रारम्भ की।

कठिनाई मे सहायता तथा अगीकृत अनुष्ठान मे सफलता प्राप्त करने के लिए भी उस शक्ति का आह्वान किया गया। आर्यो द्वारा किये जानेवाले यज्ञो मे वही रूप मिलता है। इस रूप मे इस बात का ध्यान नही रखा गया कि वह अतीन्द्रिय शक्ति मगलमय है और सबका भला चाहती है। उससे युद्ध मे विजय तथा शत्रु-नाश की प्रार्थना भी की गई। स्वार्था से प्रेरित होकर मानव ने उससे ऐसे फलो की कामना भी की जो नैतिकता के विरुद्ध हैं। यहूदी अब भी यही मान रहे है कि ईश्वर विश्व के समस्त वरदान उन्हे ही देगा और इसके लिए दूसरो का सहार करने मे भी नही हिचकेगा। भारतीय साहित्य मे ऐसे उदाहरणो की विपुल सख्या है जहा चोर, डाकू, वेश्याए आदि समाज-विरोधी तत्त्व अपने-अपने उद्देश्य मे सफलता के लिए इष्ट देवता से प्रार्थना करते है। महाकवि शूद्रक-कृत 'मृच्छकटिक' नामक नाटक मे शर्विलक नाम का चोर सेंध लगाने से पहले भगवान् कार्तिकेय से प्रार्थना करता है कि अन्दर पहुचने पर पर्याप्त धन हाथ मे लगे, कोई जागने न पाये और सारा अनुष्ठान निर्विघ्न पूरा हो जाय। इसी प्रकार जुआरी भी जुए मे जीतने के लिए भगवान् से प्रार्थना करते है। इस प्रकार की धारणाएं अब भी पर्याप्त मात्रा मे विद्य-मान हैं। जैसे-जैसे मानव ने विकास किया और वह प्राकृतिक तत्त्वो पर

विजय प्राप्त करता गया, अतीन्द्रिय शक्ति की कल्पना बदलती गई। उसे जगत् का नियन्त्रण करनेवाली एक विराट् शक्ति के रूप मे मान लिया गया; और यह कहा गया कि वह निष्पक्ष है तथा प्रत्येक प्राणी को उसके अच्छे अथवा वुरे कर्म के अनुसार फल देती है। ब्राह्मण-परम्परा ने उत्तर-वर्ती काल मे यह प्रतिपादन किया कि यदि यज्ञ का अनुष्ठान विधिपूर्वक किया जायगा तो उसका फल अवश्य प्राप्त होगा। इस प्रकार अतीन्द्रिय शक्ति के स्थान पर कर्म का प्रभुत्व आ गया।

क्रमश उपनिषदो के ऋषियो ने यह अनुभव किया कि वह अतीन्द्रिय शक्ति हमारा अपना ही स्वरूप है। वह हमारे से भिन्न नही है। उसकी खोज और अपनी आत्मा की खोज एक ही वात है। उन्होने यह भी कहा कि जो व्यक्ति उस शक्ति को अपने से भिन्न मानता है वह नासमझ है। वह तो देवताओ का पशु है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अतीन्द्रिय शक्ति का अस्तित्व तो रहा, किन्तु मनुष्य ने उसके साथ एकता स्थापित करली। दूसरी ओर भक्तिवाद की जिन परम्पराओ ने उसे अपने से भिन्न माना, उन्होंने भी उसे भयङ्कर दण्डनायक के स्थान पर मित्र, प्रेमी या स्वजन के रूप में स्वीकृत किया और उसके साहचर्य से आनन्द का अनुभव किया।

२ आदेशमूलक—धर्म का दूसरा रूप हमारे सामने किसी ग्रन्थ या महापुरुष की आज्ञा के रूप मे आता है। जैमिनि ने धर्म का लक्षण करते हुए कहा है कि वेद की आज्ञा ही धर्म है। इस्लाम मे भी कुरान की आज्ञाओ को धर्म माना गया है। धर्म के इस स्वरूप में मनुष्य को स्वय विचार करने का अधिकार नही रहता। आज्ञा-पालन ही उसका एकमात्र कर्त्तव्य वन जाता है। इस प्रकार की व्याख्या का मुख्य उद्देश्य सघटन होता है जो सघर्ष-काल का अनिवार्य तत्त्व है। यह निश्चित है कि मानव-वुद्धि को जितनी स्वतन्त्रता दी जायगी, उतना ही मतभेद वढेगा। जहा तक सत्य की खोज का प्रश्न है, स्वस्थ मतभेद वुरा नही है, प्रत्युत उपयोगी है। इसीलिए दर्शनशास्त्र मे प्रत्येक व्यक्ति को स्वतन्त्र विचार का अधिकार दिया गया है, किन्तु जव संघटित होकर सघर्ष करने का अवसर हो, उस

समय बौद्धिक विवाद हेय हैं। उस समय किसीकी आज्ञा पर चलना ही श्रेयस्कर है। वैदिक काल मे आर्यों का भारत के मूल निवासियो के साथ संघर्ष चलता रहा। उस समय जातीय सगठन को दृढ रखने के लिए किसी आज्ञा को सर्वोपरि मानना आवश्यक था, किन्तु उपनिषद्-काल मे वह बात नही रही। वहा श्रवण के साथ मनन अर्थात् युक्तिपूर्वक विवेचन को भी योग्य स्थान दिया गया। इस्लाम का तो सारा इतिहास ही सघर्ष एव लडाइयो का इतिहास है, स्वय पैगम्बर मुहम्मद ने अनेक लडाइया लडी और तलवार के बल पर धर्म का प्रचार किया। वही मनोवृत्ति अबतक चली आ रही है। ऐसी सघर्ष-रत परम्परा मे किसी आज्ञा का सर्वोपरि माना जाना स्वाभाविक है। उस आज्ञा के न माननेवालो के विरुद्ध जो फतवे दिये गए, उसने विचार-शक्ति को सदा कुण्ठित रखा।

धर्म के आज्ञा-प्रधान होने में एक अन्य दृष्टिकोण भी है, जिसे सभी परम्पराओ ने स्वीकार किया है। वह है 'अधिकारी-भेद'। साधारणतया हमारे निर्णय राग, द्वेष, स्वार्थ-पूर्ति आदि मनोवेगो से अभिभूत होते है। मनोवेगो के प्रबल होने पर बुद्धि कुण्ठित हो जाती है और वह उन्हीका समर्थन करने लगती है। जो व्यक्ति हमे अच्छा लगता है, हमारी वासना या स्वार्थपूर्ति मे सहायक है, उसके गुण ही गुण दिखाई देते है, इसके विपरीत हम जिसे अपना शत्रु मानते है, उसके दोष ही दोष दिखाई देते है। ऐसी स्थिति मे धर्म का निर्णय उस व्यक्ति के हाथ मे नही छोडा जा सकता। उसके लिए यही उचित है कि वह किसी महापुरुष या सर्वमान्य ग्रन्थ की आज्ञाओं का पालन करे। धीरे-धीरे चित्त-शुद्धि होने पर उसे भी स्वतन्त्र विचार का अधिकार मिल सकता है। अधिकारी-भेद से धर्म का भेद आवश्यक है। अज्ञान तथा अन्धकार मे फसे हुए अविकसित आदिवासियों के लिए धर्म का जो रूप होगा, वह शिक्षा-सम्पन्न सभ्य समाज के लिए उपयुक्त नहीं हो सकता। इसी प्रकार क्रूरकर्मा युद्धप्रिय हिंसको के लिए उसका रूप भिन्न प्रकार का होगा। विभिन्न धार्मिक परम्पराओ का उद्गम-स्थान ध्यान मे रखने पर यह तथ्य स्पष्टतया समझ मे आ जायगा।

को जीवन का ध्येय माना, किसीने नि श्रेयस् अर्थात् मोक्ष को और किसीने दोनो को।

उपर्युक्त चारो दृष्टिकोणो मे एक समानता है कि प्रत्येक दृष्टिकोण मे दो रूप मिलते है, वहिर्मुखी और अन्तर्मुखी। प्रारम्भ मे प्रत्येक दृष्टिकोण वहिर्मुखी रहा, और क्रमश वह अन्तर्मुखी होता गया। अतीन्द्रिय शक्ति के विपय मे ऊपर वताया जा चुका है कि किस प्रकार वह शास्ता के रूप मे अपने भयानक रूप से वदलकर निजी आत्मा-रूप मे परिणत हो गई। आदेशमूलक दृष्टिकोण मे भी सर्वप्रथम किसी वाह्य आज्ञा को धर्म वताया गया है, किन्तु धीरे-धीरे अन्तरात्मा की आज्ञा ही धर्म वन गई। इसीके लिए मनुस्मृति मे कहा गया है—'स्वस्य च प्रियमात्मन', अर्थात्, जो अपने-आपको अच्छा लगे वही धर्म है। इसके लिए यह आवश्यक माना गया कि वह अन्त'प्रेरणा राग-द्वेष आदि अभिनिवेशो के वशीभूत नही होनी चाहिए। नैतिकता को भी सर्वप्रथम वाह्य रूप मे स्वीकार किया गया, —अर्थात् दूसरे को न सताना, व्यवहार मे परस्पर ईमानदारी रखना आदि वातों को धर्म वताया गया, किन्तु धीरे-धीरे उसने भी आन्तरिक रूप ले लिया, और वह सर्वमैत्री के रूप मे परिणत हो गई। दूसरे के प्रति द्वेप न करना, क्रोध-लोभ-कपट आदि दोपो को मन मे स्थान न देना, तथा सवके प्रति प्रेम रखना ही धर्म का रूप वन गया। ध्येय के रूप मे भी अभ्युदय के स्थान पर मोक्ष को महत्त्व प्राप्त हुआ। मोक्ष का अर्थ है आत्मा के अन्दर रहे हुए अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख तथा अनन्त वीर्य की अभिव्यक्ति, वाह्य वन्धनो से छुटकारा एव समस्त मालिन्य का दूर होना। आत्मा के इसी शुद्ध रूप को उपनिपदो मे 'सच्चिानन्द' शब्द से प्रकट किया गया है।

सत् का अर्थ है शक्ति, चित् का अर्थ है ज्ञान और आनन्द का अर्थ है सुख, इन तीनो की पूर्णता ही परमात्म-पद है। शक्ति का वाह्य अर्थ है दूसरो पर अधिकार जमाने का सामर्थ्य, किन्तु आन्तरिक अर्थ है स्वतन्त्रता; अर्थात् अपने अस्तित्व या जीवन के लिए किसी दूसरे पर निर्भर न रहना।

इसी प्रकार आन्तरिक सुख का अर्थ है उसके लिए किसी वाह्य वस्तु की अपेक्षा का न होना। आन्तरिक ज्ञान भी स्वानुभूति-रूप है।

धर्म का यह चरम लक्ष्य है और यह पूर्णतया मगलमय है।

धर्म की उपर्युक्त सव परिभापाओ मे मानव-कल्याण को सामने रखा गया है। मानव-कल्याण का जिसके सामने जैसा रूप आया, उसने उमी प्रकार से धर्म की व्याख्या कर दी। किसीने व्यक्ति को महत्त्व दिया और किसीने ममाज को। किसीने वर्त्तमान जीवन को सवकुछ समझा और किसीने एक शाश्वत तत्त्व की ओर लक्ष्य करते हुए वर्तमान जीवन को उमका मावन बताया। इन सभी भिन्न दृष्टिकोणो के होते हुए भी सर्वसम्मत लक्षण मनुष्य का कल्याण या मगल ही है। कल्याण का क्षेत्र जितना व्यापक होगा तथा उसमे जितना अधिक स्थायित्व होगा, उतना ही धर्म का म्वरूप उत्कृष्ट होता जायगा। मानव व्यक्तिगत स्वार्थ मे आगे वढकर ज्यो-ज्यो परिवार, समाज, राष्ट्र आदि को 'स्व' मे सम्मिलित करता जाता है और उनके मगल को अपना मगल मानने लगता है, त्यो-त्यो उमका धर्म उत्तरोत्तर उदात्त होता जाता है। जव वह स्व और पर की सीमा को लाघ कर समस्त विश्व तक पहुच जाता है, विश्व के मगल को ही अपना मगल मान लेता है, भौतिक परिधियो को समाप्त कर देता है, तव वह धर्म की उच्चतम स्थिति में पहुच जाता है, जहा स्व और पर का कोई भेद नही रहता। वेदान्त का दृष्टिकोण है कि उस स्थिति मे सवकुछ 'स्व' हो जाता है, 'पर' कुछ नहीं रहता। इसके विपरीत वौद्ध धर्म का दृष्टिकोण है कि सवकुछ 'पर' हो जाता है, 'स्व' कुछ नही रहता। जैनधर्म, यथार्थवादी होने के कारण, इसीको सर्वमैत्री कहता है। 'मित्ती मे सव्वभुएसु' ही उसकी मूल प्रेरणा है।

मगलमयता का दूसरा दृष्टिकोण काल की अपेक्षा है। हमारे कुछ कार्य प्रारम्भ में मगलमय प्रतीत होने पर भी परिणाम में मगलमय सिद्ध नही होते। हिंसात्मक कार्यो द्वारा प्राप्त की गई सभी सफलताए इसी प्रकार की होती हैं। कुछ कार्य ऐसे होते हैं जो न आदि में मगल है, न

अन्त मे। तामसी वृत्तिवाले क्रूरकर्मा लोगो के कार्य इसी कोटि मे आते है। उन्हे अपने कार्यों से न प्रारम्भ में सुख मिलता है और न अन्त मे। कुछ कार्य ऐसे होते हैं जो आदि में अमगल होने पर भी अन्त मे मगलमय होते हैं। भावी हित की दृष्टि से जो कठोर अनुशासन किया जाता है, वह इस कोटि मे आता है। बच्चो के प्रारम्भिक शिक्षण के समय शारीरिक दण्ड तथा शासक द्वारा प्रजा पर नियन्त्रण आदि भावी मगल को दृष्टि में रखकर किये जाते है। चौथी श्रेणी उन कार्यों की है जो आदि मे भी मगल है और अन्त मे भी। यद्यपि तीसरी श्रेणी मे भी धर्म का अश रहता है, फिर भी वास्तविक धर्म की गणना मे चौथी श्रेणी ही आती है। इसमे भी कठोर अनुशासन है, किन्तु व्यक्ति उसे स्वेच्छापूर्वक अपनाता है और उसके पालन में बाह्य कष्ट होने पर भी आन्तरिक आनन्द का अनुभव करता है। इसीको लक्ष्य करके भगवान् बुद्ध ने अपने शिष्यो को कहा था—"हे भिक्षुओ, ऐसी चर्या का पालन करो जो आदि मे कल्याण हो, मध्य मे कल्याण हो और अन्त मे भी कल्याण हो।" उत्कृष्ट धर्म वह है जो अपनी मगलमयता के लिए काल की सीमा को भी पार कर जाता है।

धर्म की मगलमयता को ही लक्ष्य में रखकर 'दशवैकालिक' नामक जैन सूत्र मे कहा गया है—'धम्मो मङ्गलमुक्किट्ठम्', अर्थात् 'धर्म उत्कृष्ट मगल है।' यही धर्म का सर्वसम्मत लक्षण है। धर्म मगल-प्राप्ति का साधन ही नही स्वय मगल है। लक्ष्य-प्राप्ति के लिए जो यात्रा की जाती है वह केवल साधन नही होती, अपितु साध्य भी है। प्रत्येक कदम पर आशिक रूप से लक्ष्य की प्राप्ति होती जाती है। प्रत्येक कदम आनेवाले कदम का साधन है और पिछले कदम का साध्य। इसी प्रकार धर्म प्रत्येक क्षण मे मगल की उत्तरोत्तर वृद्धि करता रहता है। प्रत्येक क्षण उत्तरवर्ती क्षण का साधन है और पूर्ववर्ती क्षण का साध्य। यात्रा अपने-आप मे मगल है।

यहां एक प्रश्न उपस्थित होता है कि मगलमयता का निर्णय किस आधार पर किया जाय? व्यक्ति स्वार्थो के संकुचित वातावरण मे पला है। जबतक उसके दूषित सस्कार दूर नही होते, तबतक मगलमयता

का निर्णय उसकी इच्छा पर नही छोडा जा सकता । इसके लिए धार्मिक परम्पराओ ने एक केन्द्र-विन्दु निश्चित कर दिया है और कहा है कि जो कार्य उस केन्द्र-बिन्दु के अनुकूल हो वह धर्म है, और जो प्रतिकूल हो वह पाप । उस केन्द्र-बिन्दु को मोक्ष, निर्वाण, साक्षात्कार, कैवल्य आदि शब्दों द्वारा प्रकट किया है । इस केन्द्र-विन्दु पर पहुचने के लिए जो मार्ग है उसका नाम धर्म है । जैन शास्त्रो के अनुसार अमगल का कारण मोह अथवा वैषम्य-बुद्धि है । इसे दूर करने का उपाय है जीवन में समता को उतारना, जीव-मात्र को समान समझना । बौद्ध परम्परा मे अमगल का कारण तृष्णा अर्थात् प्यास है । यह प्यास वाह्य जगत् से सम्बन्ध रखती हो अथवा अन्तर्जगत् से, प्रत्येक स्थिति मे वन्धन है और अमगल का कारण है । उसे दूर करने के लिए उन्होने शून्य की उपासना प्रस्तुत की । वेदान्त अविद्या अर्थात् अज्ञान को अमगल का कारण मानता है और कहता है कि उसीके कारण अनेकता एव वैषम्य का भ्रम होता है । अविद्या को दूर करने के लिए उसने आत्म-तत्त्व के साक्षात्कार पर बल दिया । उपर्युक्त आध्यात्मिक परम्पराओ को छोडकर यदि हम सामाजिक विकास अथवा भौतिक उन्नति को लक्ष्य माननेवाली लौकिक परम्पराओ को ले तो उन्होने भी लक्ष्य और प्रापक दोनो तत्त्व प्रस्तुत किये है । मनुस्मृति मे निर्णय के चार आधार है—१ श्रुति, अर्थात् शाश्वत ज्ञान, २ स्मृति, अर्थात् ज्ञान-सम्पन्न व्यक्तियो का अनुभव, ३ सदाचार, अर्थात् भले व्यक्तियो की जीवनचर्या; तथा ४ जो अपनी आत्मा को प्रिय एव हितकारी लगे । जैमिनि ने एकमात्र वेद की आज्ञा को धर्म बताया है । जैन परम्परा मे भी साधारण व्यक्तियो को सामने रखकर 'आणाए धम्मो' कहा गया है अर्थात् भगवान् की आज्ञा में ही धर्म है । जबतक हमारा मन दुर्बल है और दृष्टिकोण एकागी है, तबतक आज्ञा-प्रदान, अनुशासन अथवा आदेश अनावश्यक हो जाते है ।

धर्म की आज्ञाए जीवन को व्यवस्थित तथा सुसस्कृत बनाने के लिए होती है और वे धर्म-प्रवर्त्तक द्वारा तत्कालीन परिस्थिति को लक्ष्य

करके दी जाती है । किन्तु मानव शनै-शनै उनके बाह्य रूप को महत्त्व देने लगता है और अपनी परम्परा द्वारा प्राप्त आज्ञाओं का ईमानदारी के साथ पालन करने के स्थान पर, दूसरी परम्पराओ की आज्ञाओ के खडन को अधिक महत्त्व देने लगता है और समझता है कि इस प्रकार वह अपनी परम्परा की सेवा कर रहा है । उसे अगीकृत परम्परा की आज्ञाओ के अनुसार अपना जीवन ढालने और उसके द्वारा अपने विकास की इतनी चिन्ता नही रहती, जितनी बाह्य रूप के सरक्षण की । उसे अपने उद्धार की अपेक्षा दूसरो के तथाकथित उद्धार की अधिक चिन्ता रहती है और इसकी आड मे वह अपने अहकार एव मिथ्याभिमान का पोषण करने लगता है । इसके लिए वह हिसा, असत्य, कपट आदि का आश्रय लेते हुए भी नही हिचकता और इस प्रकार धर्म को अधर्म का गुलाम बना देता है । परिणामस्वरूप मगलमय धर्म नासमझी, अहकार और स्वार्थ-वृत्ति के कारण अमंगल बन जाता है । समय तथा परिस्थिति के अनुसार धर्म के बाह्य रूप मे परिवर्तन की भी आवश्यकता रहती है । उसे अस्वीकार करके हम धर्म के उपयोग को घटा देते हैं ।

वास्तव मे देखा जाय तो बाह्य रूप, आन्तरिक रूप का वाहन है । इन वाहन के द्वारा हम धर्म के वास्तविक तत्त्वों को सर्वसाधारण तक पहुचाते है, किन्तु वाहन आवश्यक होने पर भी अपने-आप मे धर्म नही है, साथ ही परिस्थिति के अनुसार वाहन को बदलना भी आवश्यक हो जाता है । जो वाहन स्थल मे काम देता है, वह जल मे काम नही देता । इसी प्रकार प्राचीन शकट-युग के वाहन वर्तमान वायुयान-युग के वाहनो की प्रतिस्पर्धा मे खडे नही रह सकते । वर्तमान जन-मानस तक धर्म का सदेश पहुचाने के लिए हमे ऐसे वाहनो की आवश्यकता है जो इस विज्ञान-युग मे भी उसकी उपयोगिता सिद्ध कर सके । अत. वर्तमान युग की माग है कि धर्म का रक्षण करते समय हम उसके परम्परागत बाह्य रूपो को महत्त्व न दे; जहा तक हो सके, उसके आन्तरिक रूप को ही प्रकट करने तथा निखारने का प्रयत्न किया जाय । इसके लिए आधुनिक युग के साधन

अपनाना और बाह्य रूप में आवश्यकतानुसार परिवर्तन करना आवश्यक है ।

धर्म का स्वरूप समझने के लिए हम उसे दो भागो में बाट सकते हैं .

(१) शाश्वत तत्त्व, तथा

(२) विश्व-व्यवस्था सम्बन्धी मान्यताए ।

१. शाश्वत तत्त्व—प्रत्येक धर्म परमात्मा, ईश्वर, आत्मा आदि किसी नाम से एक ऐसे अतीन्द्रिय तत्त्व या पद के अस्तित्व को स्वीकार करता है जिसको लक्ष्य मे रखकर मनुष्य भौतिक स्वार्थों की परिधि से ऊपर उठ सके । वह तत्त्व ऐसा है जहा ज्ञान, सुख तथा शक्ति की पराकाष्ठा है । कोई परम्परा ज्ञान को महत्त्व देती है, कोई सुख को, कोई शक्ति को और कोई तीनो को । वास्तव मे देखा जाय तो पूर्णता प्राप्त करने के पश्चात् इन तीनो मे कोई भेद नही रहता । इसीको वेदान्त में सच्चिदानन्द-स्वरूप ब्रह्म कहा गया है । जैन दर्शन मे ज्ञान के दो भेद कर दिये गए और इस प्रकार जो चार तत्त्व बने, उन्हीको अनन्त-चतुष्टय के रूप मे प्रतिपादित किया गया । वेदान्त और जैन दर्शन दोनो ही यह मानते है कि मनुष्य वास्तव मे स्वय इन तीन अथवा चार तत्त्वो से अभिन्न है, किन्तु बाह्य उपाधियो अथवा आवरणो के कारण वह तत्त्व दबा हुआ है । इन उपाधियो या मलिनताओ को हटाते ही वह अभिव्यक्त हो जाता है । उसी स्थिति का नाम मोक्ष, साक्षात्कार अथवा ब्रह्म-लय है ।

इस शाश्वत तत्त्व की प्राप्ति के लिए दो प्रकार के साधन अपेक्षित है

(अ) विधि-रूप, तथा

(आ) निषेध-रूप ।

(अ) **विविध-रूप**—विधि-रूप प्रयत्न का अर्थ है उस तत्त्व का बार-बार स्मरण एव चिन्तन । जहा तक हो सके, उसीके ध्यान मे लीन रहना । इसके लिए मन को बाह्य आकाक्षाओ से हटाकर उसी तत्त्व मे स्थिर करने की आवश्यकता है ।

(आ) **निषेध-रूप**—इन प्रयत्नो मे मन, वचन तथा शरीर सभीको

ऐसी प्रवृत्तियो से दूर रखा जाता है जो उस तत्त्व के चिन्तन मे बाधक हैं। उन प्रवृत्तियो को प्राय. सभी धर्मों ने—हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्मचर्य तथा परिग्रह—इन पांच श्रेणियो में विभक्त किया है और इनके परित्याग को पांच महाव्रतो या यमो के रूप मे स्वीकार किया है। ये सदाचार अथवा नैतिकता के मूल सिद्धान्त है। महर्षि पतजलि ने अपने योगमार्ग मे इन्हें सर्वप्रथम स्थान दिया है, साथ ही यह भी बताया है कि ये सार्वभौम है, अर्थात् देश, काल, समयत था परिस्थिति की सीमा से परे है। जैन परम्परा ने भी इन्हें आचार के मूल सिद्धान्तो के रूप मे स्वीकार किया है। आचार के ये सिद्धान्त शाश्वत है, इनका उल्लघन किसी भी स्थिति मे मगलमय नही है।

२ विश्व-व्यवस्था—धर्म का दूसरा स्वरूप लोक-व्यवस्था-सम्बन्धी मान्यताए है। इनके तीन आधार है–१ प्रत्यक्ष, २ अनुमान और ३. आगम अर्थात् शास्त्र। यद्यपि दार्शनिक चर्चा मे प्रत्यक्ष और अनुमान को विशेष महत्त्व दिया जाता है, किन्तु धार्मिक जगत् मे आगम का ही प्राबल्य है। उसका कथन है कि धर्म का सम्बन्ध उस आन्तर जगत् के साथ है जहा तर्क और प्रत्यक्ष नही पहुच सकते। वहा तक पहुचने के लिए चित्त-शुद्धि की आवश्यकता है। हृदय ज्यों-ज्यों निर्मल होगा, वह तत्त्व अधिकाधिक प्रतिबिम्बित होता जायगा।

'ब्रह्मसूत्र' के रचयिता बादरायण ने कहा है—'तर्काप्रतिष्ठानात्'; अर्थात् तर्क के अप्रतिष्ठित होने के कारण वास्तविकता को जानने के लिए श्रुति या वेद-वाक्य ही एकमात्र सहारा है। शंकराचार्य ने इस सूत्र की व्याख्या करते हुए कहा है कि एक तार्किक आज जिस बात को तर्क के सहारे सिद्ध करता है, कल दूसरा तार्किक उसका खण्डन कर देता है; ऐसी स्थिति में बेचारा साधक उलझन मे पड़ जाता है। उसे केवल बातें नहीं करनी हैं, उस तत्त्व को जीवन में उतारना है और उसके लिए लम्बी यात्रा करनी है। तर्क के आधार पर किये गए किसी निर्णय को शाश्वत सिद्धान्त तभी माना जा सकता है जब भूत, वर्त्तमान और भविष्यत् तीनों

कालो के समस्त तार्किक एकत्र होकर उसे स्वीकार कर लें । किन्तु ऐसा सम्भव नही है ।

वास्तव मे देखा जाय तो बुद्धि और हृदय का परस्पर अत्यधिक सम्बन्ध है । जो व्यक्ति राग-द्वेष तथा सासारिक वासनाओ से ऊपर नही उठा है, उसकी बुद्धि हृदय का अनुसरण करती है । उसके सत्यासत्य एव भले-बुरे का निर्णय मानसिक भावनाओं के आधार पर होता है । जिस चीज़ को हम खाना चाहते है वह पौष्टिक तथा शरीर के लिए हितकर भी प्रतीत होने लगती है । जो धारणा हमारे मन में जमी रहती है, बुद्धि उसका समर्थन करने के लिए युक्तिया खोज निकालती है ।

ऐसी मनोदशा मे सत्य का निर्णय किस आधार पर किया जाय, यह एक विचारणीय प्रश्न है । वैदिक परम्परा ने उस निर्णय को वेद अथवा श्रुति के आधार पर करने को कहा । वेद की व्याख्या करते हुए उसने कहा कि वह शाश्वत ज्ञान है जो निर्मल हृदयवाले ऋषियो के अन्त करण मे प्रस्फुटित हुआ । उसमें जो आदेश या सिद्धान्त सन्निहित हैं, वे राग-द्वेष से घिरे हुए मानव द्वारा नही रचे गए । सीधे-सादे शब्दो मे उन्हे अन्त-रात्मा की ध्वनि माना जाता है । जैन-परम्परा मे वे शब्द उन महामानवो के विचार है जो वीतराग हैं और सर्वज्ञ है ।

साधारण मनुष्य जब बोलता है तो विविध परिस्थितियो मे उसके विविध प्रेरक होते है । उनका विश्लेषण करने पर बहुत-से तथ्य सामने आते है और सत्य का निर्णय करने मे सहायता मिलती है । मान लीजिये एक व्यक्ति दूसरे को गालिया दे रहा है और उनमे बहुत-से ऐसे आरोप लगा रहा है, जिन्हें वह स्वय असत्य मानता है, सामनेवाला भी असत्य मानता है और तटस्थ सुननेवाला भी असत्य मानता है । ऐसी स्थिति में उन आरोपो का इतना ही अर्थ है कि उसका क्रोध बोल रहा है । इसी प्रकार कही हमारा अभिमान बोलता है, कही इच्छाए, कही मोह, कही भय और कही स्वार्थवृत्ति । इतना ही नही, धर्म और ईश्वर का नाम लेकर भी हमारी अस्मिता तथा अन्य वृत्तिया बोलती रहती हैं । उन मनोवेगों

से अभिभूत मानव के मुख से जो शब्द निकलते है, उन्हे शाश्वत सत्य नही कहा जा सकता। उनके आधार पर साधक अपनी यात्रा का निर्णय नही कर सकता। यदि ऐसा करता है तो पथ-भ्रष्ट होने की सभावना बनी रहती है।

यह जानने और समझने के लिए कि व्यक्ति के निर्णय उसके सस्कारो से किस प्रकार प्रभावित होते है, हमे ज्ञान के क्रम का विश्लेषण उपयोगी होगा। पदार्थ का इन्द्रिय के साथ सम्पर्क होता है जिसे प्रतीति ((sensation) कहा जाता है। वह प्रतीति ज्ञानवाहक नाडियो (motoı nerves) द्वारा मस्तिष्क के कोषो मे पहुचाई जाती है, जहा पहचानने (cognition) की क्रिया सम्पन्न होती है। इस क्रिया मे हमारा मस्तिष्क प्राचीन् स्मृति, पूर्वानुभूत दृश्य अथवा अनुभव से उसका सम्बन्ध जोडता है। इसको सविकल्पक ज्ञान (ıdeatıon) कहते है। उसके पश्चात् पूर्व-सस्कारो का पुञ्ज मन उस प्रतीति के अनुकूल अथवा प्रतिकूल, हित अथवा अहित, ग्राह्य अथवा अग्राह्य होने का निर्णय करता है। इसे अनुभूति (feelıng) कहते हैं। यह निर्णय पुरातन वासनाओ एव जमे हुए सस्कारो के आधार पर होता है अत बुद्धि उनके प्रभाव से अछूती नही रहती।

साख्यदर्शन में बुद्धि की उपमा एक दर्पण से दी गई है जिसमे बाह्य वस्तुओ एव परिवर्तनो के प्रतिबिम्ब पडते रहते है। इन्ही प्रतिबिम्बो को ज्ञान कहा जाता है। यदि दर्पण स्वच्छ है तो प्रतिबिम्ब भी स्वच्छ होगा। यदि उसमे मलिनता है, किसी रग का मिश्रण है, वह समतल नही है अथवा आकार मे किसी प्रकार की विषमता है तो प्रतिबिम्ब भी दोष-पूर्ण होगा। इस प्रकार हमारे ज्ञान की स्वच्छता हमारे मन की स्वच्छता तथा समता पर निर्भर है।

उपर्युक्त दृष्टि को सामने रखकर ही धार्मिक परम्पराओ में प्रत्यक्ष अथवा अनुमान की अपेक्षा आगम को अधिक महत्त्व दिया है। आगम ईश्वरीय सन्देश है या उन लोगों की वाणी है जो ईश्वर अथवा

परमात्मा के पद को प्राप्त कर चुके हैं। यह उचित ही नहीं, अपितु आवश्यक है कि धर्म का निर्णय राग-द्वेष आदि से अभिभूत साधारण व्यक्तियों के हाथ में न छोड़कर महामानव अथवा अतिमानव के हाथ में रखा जाय।

: २ :

धर्म और पंथ

धर्म का स्वरूप समझ लेने के पश्चात् यह जानना आवश्यक है कि उसका पथ या सम्प्रदाय के साथ क्या सम्बन्ध है। वर्त्तमान युग का मानव अपने-आपको साम्प्रदायिक कहने मे गौरव का अनुभव करता है। विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या सम्प्रदाय या पथ सर्वथा बुरी वस्तु है? उसका स्थान धर्म के ऋण-पक्ष मे है या धन-पक्ष मे?

यह पहले बताया जा चुका है कि पथ धर्म का शरीर है। धर्म आत्मा है तो पथ उसका स्थूल देह। आत्मा के बिना स्थूल देह व्यर्थ ही नही, अत्यन्त हानिकर भी है। निर्जीव शरीर को जितना शीघ्र जला दिया जाय या गड्ढे मे दबा दिया जाय उतना ही अच्छा, अन्यथा उससे निकले हुए कीटाणु वातावरण को विषाक्त करते रहेगे। किन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि आत्मा शरीर के बिना नही टिक सकता। स्वस्थ आत्मा के लिए स्वस्थ शरीर भी चाहिए। इसी प्रकार स्वस्थ धर्म के लिए स्वस्थ पथ या सम्प्रदाय की भी आवश्यकता है। धर्म का सम्बन्ध आन्तरिक चेतना से है, किन्तु रुग्ण शरीर मे स्वस्थ चेतना नही रह सकती। इसी प्रकार बाह्य क्रिया-कलाप यदि स्वस्थ तथा पवित्र होगा, तो वह धर्म को भी स्वस्थ रख सकेगा।

विश्व के धर्मो का इतिहास भी उपर्युक्त तथ्य को प्रकट करता है। सभी धार्मिक मान्यताए अपने जन्म-काल मे उच्च भावनाओ को लिये हुए थी, किन्तु बाह्य क्रिया-कलाप के तदनुरूप न होने के कारण उनमें धीरे-धीरे पतन आने लगा। उदाहरण के रूप मे अपरिग्रह या अलोभ-वृत्ति धर्म का आवश्यक तत्त्व है। वास्तव में देखा जाय तो इसका सम्बन्ध

मन से है अर्थात् बाह्य धन-सम्पत्ति के होने पर भी यदि मनुष्य में लोभ, ममत्व या आसक्ति नही है, तो वह अपरिग्रही है। अनेक परम्पराओ ने इसी बात पर बल दिया और बाह्य नियन्त्रण या सयम की उपेक्षा कर दी। परिणामस्वरूप अनुयायियो मे धीरे-धीरे शैथिल्य आने लगा और उस आन्तरिक तत्त्व को भी भुला दिया गया। इसके विपरीत जिन पर-म्पराओ ने बाह्य नियत्रण पर भी समान रूप से बल दिया, उनमे पतन की मात्रा अपेक्षाकृत न्यून है। कहने की आवश्यकता नही कि बाह्य आचार समय-समय पर आन्तरिक तत्त्व का स्मरण कराता रहता है।

साथ ही इस सावधानी की भी आवश्यकता है कि बाह्य, आचार को अपने-आप मे धर्म न माना जाय। धार्मिक परम्पराओ का रक्त-रजित इतिहास इसी असावधानी का कुपरिणाम है। यहूदियो और ईसाइयो मे परस्पर सैकडो वर्षों तक धर्म के नाम से युद्ध चलते रहे। इसी प्रकार हिन्दू और मुसलमानो की पारस्परिक शत्रुता स्थायी तथ्य बन गई है। कहा जाता है कि इन झगडो के पीछे राजनीतिक स्वार्थ निहित हैं, किन्तु यह बात कुछ इने-गिने नेताओ के लिए ही कही जा सकती है। धर्म का नाम लेकर जिस जनता को पागल बनाया जाता है वह राजनीतिक स्वार्थो को नही समझती। वह तो धर्म के नाम पर ही मरती है या मारती हैं। उसे एक ओर बताया जाता है कि ईश्वर सर्वत्र है, दूसरी ओर यह बहकाया जाता है कि उसकी प्राप्ति मन्दिर या मस्जिद मे ही हो सकती, है और जो लोग उस-उस परम्परा द्वारा स्वीकृत धर्म-स्थान में नही आते वे कितने ही सदाचारी हो, पापी हैं, नास्तिक है, काफिर हैं और उनको मारने से परमात्मा प्रसन्न होगा। धर्म के नाम पर इस प्रकार का उन्माद वास्तव मे बुरा है। यह सजीव शरीर की नही, प्राणहीन शव की उपासना है। साथ ही एक बात अवश्य ध्यान मे रखनी चाहिए कि प्राणवान् शरीर एक दिन शव में परिवर्तित हो जायगा, इसलिए उसे भी क्यो न तुच्छ समझा जाय, ऐस माननें से काम नही चलेगा।

पहले बताया जा चुका है कि धर्म जीवन का एक मार्ग है। वह

कठोर यात्रा है जिसमे कष्ट उठाने पडते है, सकट आते है और सब पर विजय प्राप्त करते हुए आत्मानन्द का अनुभव करना होता है, आगे बढना होता है। इसके लिए साहस और दृढ निष्ठा की आवश्यकता है और निष्ठा के लिए लक्ष्य तथा मार्ग पर एकाग्रता अनिवार्य है। भले ही एक लक्ष्य पर पहुंचने के अनेक मार्ग हो, किन्तु वहा पहुच तभी सकते है जव किसी एक मार्ग का आश्रय लेकर चला जाय। सब मार्गों के प्रति समभाव रखकर, सवको अच्छा समझकर केवल उनकी चर्चा मे उलझा रहनेवाला व्यक्ति आगे नही वढ सकता। साथ ही यह वात भी है कि एक मार्ग का अवलम्वन लेने के वाद दृढतापूर्वक उसीपर चलते रहना होगा। सकट या विषम परिस्थिति आने पर दूसरे मार्ग की ओर झाकनेवाला व्यक्ति कही भी सफलता नही प्राप्त कर सकता। धर्म-परिवर्तन को इसीलिए निकृप्ट समझा गया है।

धर्म का चरम लक्ष्य आत्मा का पूर्ण विकास है। उस स्थिति मे आत्मा वह्म मे लीन हो जाता है या अपने गुणो का पूर्ण विकास करके परमात्मा वन जाता है या दीपक के समान वुझ जाता है अथवा सुख-दु ख, वुद्धि आदि गुणो से शून्य होकर जड के समान वन जाता है—आदि अनेक मान्यताएं है जिनकी विविध दर्शनो मे चर्चा है, किन्तु उस दार्शनिक चर्चा के द्वारा न तो किसीने वास्तविकता को समझा और न कोई समझ पायेगा। वास्तविकता को समझने के लिए अनुभव या साक्षात्कार की आवश्यकता है और उसके लिए स्वय वढना होगा। जिस व्यक्ति ने गुड नही खाया, वह गुड के स्वाद को नही जान सकता। इसी प्रकार उस परम पद पर पहुचे बिना व्यक्ति उसके स्वरूप को नही समझ सकता, तवतक जो कुछ कहा जायगा वे केवल सभावनाए ही होगी। फिर भी प्रगति के लिए हमारे मन मे यह दृढ विश्वास होना चाहिए कि वह लक्ष्य उपादेय है, मगलमय है। वहा सव दु खो का अन्त हो जाता है। इस प्रकार की दृढ निष्ठा हुए बिना कठोर यात्रा और उसमे आनेवाले सकटो का सामना सभव नही।

वर्त्तमान युग मे साम्प्रदायिक, पथी, मतावलम्वी आदि शब्द

निन्दासूचक वन गए है, किन्तु उनका मुख्य आक्षेप निर्जीव क्रियाकाण्ड पर है और साथ ही उस द्वेष तथा अहकार पर है जिनका पोपण धर्म के नाम से किया जाता है। व्यक्ति अपनी वासनाओ का पोपण विविध रूप से करता है, यह उसकी स्वाभाविक वृत्ति है। किन्तु जव उसको धर्म का समर्थन मिल जाता है तो कोई निरोधक तत्त्व नही रहता। अत एक ओर सम्प्रदाय के नाम से किये जानेवाले अहकार या द्वेष-पोषण से वचने की आवश्यकता है, दूसरी ओर धार्मिक सहिष्णुता, उदारता सर्वधर्म-समभाव आदि नामो से चलनेवाले धर्म-हीन जीवन से भी वचने की आवश्यकता है।

यह भी पहले वताया जा चुका है कि धर्म के तीन अग है—देव, गुरु तथा मार्ग। प्रत्येक धर्म के प्राणवान् व्यक्तित्व मे ये तीनो तत्त्व पाये जाते है। एक की भी न्यूनता होने पर धर्म प्राणवान् नही रहता। इन तीनो का परस्पर अनुरूप होना अत्यन्त आवश्यक है। देव-तत्त्व आदर्श या लक्ष्य का कार्य करता है और प्रत्येक लक्ष्य की पूर्ति के लिए मार्ग की विशिष्टता आवश्यक है। एक आदर्श के साथ दूसरा मार्ग नही जोडा जा सकता। उदाहरण के रूप मे जैन परम्परा किसी ऐसे एक व्यक्तित्व को नही मानती जो विश्व की रचना तथा उसपर नियन्त्रण करता हो। उसका कथन है कि स्वय आत्मा ही अपने गुणो का पूर्ण विकास करके परमात्मा वन जाता है और परमात्मा वनने की यह शक्ति प्रत्येक प्राणी मे है। तदनुरूप उसने मार्ग वताया है कि क्रोध, मान, माया, लोभ आदि आत्मा की दुर्वलताए जैसे-जैसे घटती जायगी, आत्मा शक्तिशाली तथा उन्नत होता जायगा और इसके लिए प्रत्येक व्यक्ति को स्वय प्रयत्न करना होगा। स्वय चले विना कोई लक्ष्य पर नही पहुच सकता—इस दृष्टि-कोण से भगवान् की कृपा पर निर्भर रहने का उपदेश देनेवाला भक्तिवाद ठीक नही वैठता। वौद्ध, शैव, वैष्णव, वेदात आदि सभी परम्पराए इसी प्रकार और ईमानदारी के साथ अपने-आप मे पूर्ण है और दृढ निष्ठा के साथ उनमे से किसी एक परम्परा का अवलम्वन लेनेवाला व्यक्ति अपने

लक्ष्य पर पहुच सकता है। किन्तु एक परम्परा के शरीर मे दूसरी परम्परा के अगो को जोडना दोनो के व्यक्तित्व को नष्ट करना है। प्रत्येक शरीर अपने-आप मे इकाई है और उस इकाई का नियामक है सारे अगो का परस्पर अनुकूल तथा पोपक होना। एक परम्परा के शरीर पर दूसरी परम्परा का सिर लगाने पर अस्थिपजर भले ही रह जाय, किन्तु सजीव व्यक्तित्व की रचना नही हो सकती। वह प्रदर्शन के लिए एक विचित्र वस्तु बन सकता है और उसे देखकर मनोरजन किया जा सकता है, किन्तु उससे कोई प्रेरणा नही मिल सकती।

अत सत्य, अहिंसा आदि अनेक तत्त्वो के समान होने पर भी प्रत्येक परम्परा दूसरी परम्परा से कुछ अशो मे भिन्न है। उस भेद को जबरदस्ती अभेद मे वदलने के व्यर्थ प्रयत्न के स्थान पर किसी एक परम्परा को पूर्णतया जीवन मे उतारने का प्रयत्न करना चाहिए। साथ ही उन अन्धविश्वासो से भी बचना चाहिए, जो उस परम्परा पर काई के समान छागए है और उसकी निर्मलता को ढके हुए है। तभी उसकी आत्मा के दर्शन हो सकेंगे और तभी प्रगति की ओर कदम उठेगा।

: ३ :

धर्म का ध्येय

धर्म के ध्येय को लेकर कुछ चर्चा ऊपर आ चुकी है । यहाँ उनका कुछ विवेचन किया जायगा । यह वताया जा चुका है कि धर्म का लक्षण एव स्वरूप परम मगल है । वही उसका ध्येय है । यह वह स्थिति है जहा ध्याता, ध्यान और ध्येय एव प्राप्य, प्राप्ता और प्रापक अर्थात् प्राप्त करने का मार्ग तीनो एक हो जाते है । फिर भी लौकिक दृष्टियो को सामने रखकर सर्वसाधारण को धर्म के विविध ध्येय बताये जाते हैं ।

वर्म का सबसे स्थूल ध्येय जो सर्वसाधारण के सामने रखा जाता है, वह स्वर्ग की कल्पना पर आधारित है । व्यक्ति को कहा जाता है कि सासारिक सुख, ऐश्वर्य, भोग आदि पाप हैं । उनका परित्याग करना चाहिए । उस त्याग का फल वताया जाता है कि अगले जन्म मे वे ही भोग विपुल परिमाण मे प्राप्त होगे । इस जन्म मे धन का त्याग करने से अगले जन्म मे ऐसे विमान मिलेगे जिनमे रत्नो के ढेर पडे हैं । इस जन्म मे ब्रह्मचर्य का पालन करने से अगले जन्म मे अप्सराए मिलेंगी, जिनका सौन्दर्य सर्वोत्कृष्ट है तथा जो कभी वृद्धा नही होती । इस जन्म मे मदिरा का त्याग करने से अगले जन्म मे ऐसे स्थान पर रहने को मिलेगा, जहा शराव के झरने वहते हैं । इस प्रकार के प्रलोभन वास्तविक धर्म का पोपण कहा तक करते हैं, यह विचारणीय है । वास्तव मे देखा जाय तो इस प्रकार की कल्पनाए साम्प्रदायिक प्रचार का साधनमात्र हैं । उनके द्वारा सर्व-सावारण को अपने-अपने सम्प्रदाय की ओर आकृष्ट करने का प्रयत्न किया जाता है । सभी वार्मिक परम्पराओ मे इस प्रकार के प्रलोभन तथा अपने-अपने प्रवर्तको की शक्ति के विपय मे अतिशयोक्ति-पूर्ण प्रचार मिलता है । किन्तु वास्तव

मे देखा जाय इन सब वातो से धर्म का गौरव बढा नही, प्रत्युत घटा ही है।

जो व्यक्ति वर्तमान जीवन मे सफल एव सुखी है, वह स्वर्ग की आकाक्षा नही करता। स्वर्ग एक ऐसा आश्वासन है, जो वर्तमान जीवन मे असफल एव निराश व्यक्तियो को दिया जाता है और कहा जाता है कि अगले जन्म मे उसकी सभी कामनाए पूर्ण हो जायगी। काशी-करवट आदि अनेक अन्य अन्धविश्वास भी इसी प्रकार के रहे है, जिनका धर्म या आत्म-साधना की दृष्टि से कोई महत्त्व नही है।

उपनिषदो मे स्वर्ग-प्राप्ति के साधन यज्ञ-यागादि को जर्जर नौकाए बताया गया है, जो अन्तिम लक्ष्य तक नही पहुचा सकती। जैन तथा बौद्ध परम्परा में स्वर्ग को स्वीकार किया गया है किन्तु उसे धर्म का अन्तिम फल नही माना गया।

वैदिक सस्कृति मे जीवन के सभी क्षेत्रो में कर्त्तव्य-पालन को धर्म शब्द से प्रकट किया है। मनुस्मृति के अनुसार व्यक्ति समाज-रूपी यन्त्र का एक पुर्जा है और पुर्जे का धर्म है अपने स्थान पर रहते हुए कर्त्तव्य को पूरा करना। प्रत्येक पुर्जा अपने-अपने स्थान पर महत्त्वपूर्ण है। जब एक पुर्जा दूसरे पुर्जे का स्थान ग्रहण करना चाहता है तो वह अधर्म है, उससे यन्त्र की क्रिया रुक जायगी। इसी बात को सामने रखकर भगवद्गीता मे कहा गया है—'स्वधर्मे निधनं श्रेय परधर्मो भयावह', अर्थात् "स्वधर्म मे स्थित रहते हुए मर जाना अच्छा है। पर-धर्म को अगीकार करने की चेष्टा भयपूर्ण है।" इस श्लोक का अर्थ साम्प्रदायिकता का पोषण नही है, जहा अपने पथ या मत को छोडकर दूसरे मत या पथ को ग्रहण करना भय के रूप में बताया जाता है। किन्तु यहा अपने-अपने कर्त्तव्य की ओर सकेत है जो समाज-यन्त्र के सम्यक् परिचालन के लिए आवश्यक है। वैदिक वर्ण-व्यवस्था का भी यही आधार रहा है, जहा प्रत्येक वर्ण का धर्म अपनी-अपनी कुल-परम्परा द्वारा प्राप्त कर्त्तव्य का पालन है। व्यक्तियों के परस्पर सघर्ष को दूर करने तथा सामाजिक व्यवस्था को कायम रखने के लिए यह आवश्यक भी है।

किन्तु यह धर्म शब्द का व्यापक अर्थ नही है। व्यक्ति केवल समाज-रूपी यन्त्र का पुर्जा नही है, वह अपने-आप मे भी कुछ है। उसका 'स्वधर्म' निज के लिए पूर्ण मगल की साधना है और यह ध्येय लौकिक मर्यादाओ से ऊपर उठा हुआ है। यहा पर यह बात समझने योग्य है कि लौकिक धर्म तथा स्वधर्म मे परस्पर किसी प्रकार का विरोध नही है, प्रत्युत वे एक दूसरे के पोषक हैं। समाज-धर्म स्व-धर्म के लिए अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न करता है और स्वधर्म समाजधर्म को दृष्टि प्रदान करता है। जिस प्रकार शारीरिक स्वास्थ्य मानसिक स्वास्थ्य मे सहायक है और मानसिक स्वास्थ्य शारीरिक स्वास्थ्य मे, तथा दोनो मिलकर आध्यात्मिक स्वास्थ्य के लिए अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न करते है और आध्यात्मिक स्वास्थ्य मन तथा शरीर दोनो को बल प्रदान करता है, इसी प्रकार समाज-धर्म तथा स्व-धर्म अर्थात् आत्म-धर्म एक-दूसरे के पोषक है, विरोधी नही।

इसी प्रकार एक व्यक्ति परिवार, ग्राम, नगर, प्रान्त, राष्ट्र, व्यावसायिक सघ आदि जितने सगठनो का सदस्य है, सबके प्रति उसका कर्त्तव्य है। वह अपने उस उत्तरदायित्व से तबतक नही छूट सकता, जबतक अपने स्वार्थों एव आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए उनपर निर्भर है। उसे तबतक उनके प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करना ही चाहिए। साथ ही उस उच्चतम तत्त्व का भी स्मरण रखना चाहिए जो इन सीमाओ से परे है और परम मगल है। कई बार विभिन्न परिवारो, समाजो अथवा राष्ट्रो मे परस्पर स्वार्थो का सघर्ष हो जाता है। उस समय समाज-विशेष या राष्ट्र-विशेष के प्रति किया गया कर्त्तव्य का पालन दूसरे राष्ट्र या समाज के लिए अमगल हो जाता है। अत लौकिक धर्मों की मगलमयता मर्यादित एव सापेक्ष है। ऐसी स्थिति में परम या शाश्वत मगल को नही भूलना चाहिए। यदि परिवार, समाज आदि का उत्तरदायित्व उस शाश्वत तत्त्व की उपासना मे बाधाए खडी करे तो परिवार या समाज को छोड देना आवश्यक हो जाता है। वास्तव मे देखा जाय तो उस तत्त्व को स्मरण रखनेवाले व्यक्ति के सामने कोई दुविधा नही उत्पन्न होती। यदि अपना

परिवार अथवा समाज दूसरे परिवार अथवा समाज पर अन्याय कर रहा है, तो वह परम मगल की दृष्टि से न्याय का ही पक्ष लेगा। अपने पक्ष को न्याय पर चलने के लिए समझायेगा, उसके लिए प्रयत्न तथा सघर्ष करेगा और बडे-से-बडा बलिदान करने के लिए तैयार रहेगा। बहुत सम्भव है कि वह अपनी विशालहृदयता एव समभाव दृष्टि से तथा-कथित शत्रु का हृदय जीत ले। अत अन्ततोगत्वा किसीका अमगल नही होगा।

मानव-जीवन के कष्टो का विश्लेषण तीन प्रकार से किया जाता है—(१) अज्ञान, (२) अन्याय तथा (३) अभाव।

१. अज्ञान—सासारिक कष्टो का बहुत बडा भाग अज्ञान-जन्य है। व्यक्ति के पास खाने को पर्याप्त सामग्री है, फिर भी वह नही जानता कि कितना, किस समय और कैसे खाया जाय। वह बोल सकता है, किन्तु नही जानता कि किस प्रकार बोला जाय, जिससे स्व तथा पर के सुख की वृद्धि हो। वह चलने-फिरने की शक्ति रखता है, किन्तु नही जानता कि कैसे चला-फिरा जाय, जिससे किसीको कष्ट न पहुचे। वह हाथ-पाव हिला सकता है, किन्तु यह नही जानता कि उन्हे कैसे हिलाया जाय, जिससे दुनिया मे सुख एव आनन्द की वृद्धि हो। वह सोचना, जानना, अनुभव करना, चाहना आदि सभी मानसिक क्रियाए कर सकता है, किन्तु यह नही जानता कि उन्ही क्रियाओ के द्वारा सुख की वृद्धि कैसे की जा सकती है। शास्त्रो मे कहा है कि अज्ञानी के लिए जो दुःख का मार्ग है वही ज्ञानी के लिए सुख का मार्ग बन जाता है। जो अज्ञानी के लिए बन्धन है, वही ज्ञानी के लिए मोक्ष है।

दशवैकालिक सूत्र मे यह पूछा गया है कि व्यक्ति कैसे चले, कैसे खडा हो, कैसे बैठे, कैसे सोये, कैसे खाये तथा कैसे बोले, जिससे सबके आनन्द की वृद्धि हो। उसका उत्तर देते हुए एक ही बात कही है कि प्रत्येक क्रिया मे व्यक्ति मन को वश मे रखे अथवा सावधान रहे। फिर वह बन्धन में नही फसेगा। भगवद्गीता मे यही प्रश्न 'स्थितप्रज्ञ' की परिभाषा

के रूप मे पूछा गया है और उत्तर के रूप मे वताया गया है कि जव व्यक्ति सभी कामनाओ को छोड देता है और अपने-आप मे तृप्त रहना सीख लेता है तो उसे स्थितप्रज्ञ कहा जाता है।

प्रत्येक व्यक्ति के पास सुख का अक्षय भण्डार विद्यमान है, आनन्द का सागर लहरा रहा है, किन्तु वह उसे भूलकर कल्पित सुख की बूदो के लिए इधर-उधर भटक रहा है। वह पहले स्वय अपना शत्रु वनता है, फिर दूसरे को शत्रु वनाता है। उत्तराध्ययनसूत्र मे कहा गया है—"आत्मा ही सुख तथा दु खो का सृजन तथा विघटन करता है। आत्मा ही वैतरणी नदी है, आत्मा ही कूटशाल्मलि वृक्ष है, आत्मा ही कामधेनु है, आत्मा ही नन्दनवन है। आत्मा ही मित्र है और आत्मा ही शत्रु।" यही वात भगवद्गीता मे भी दोहराई गई है और कहा गया है कि हम दूसरे को अपना मित्र या शत्रु मानते है, किन्तु वास्तव मे अपनी आत्मा ही अपना मित्र या शत्रु होती है। आचाराङ्गसूत्र मे भगवान् महावीर ने कहा है—"अरे मानव! तू ही तेरा मित्र है। अपने से वाहर मित्र को कहा ढूढ रहा है?" मनुष्य स्वय अपना उद्धारक है और स्वय ही अपनेको गिरानेवाला है। वेदान्त, वौद्ध, योग आदि सभी आध्यात्मिक परम्पराओ मे इस वात को वार-बार दोहराया गया है। अपने इस स्वरूप को पहचानना ही समस्त ज्ञान का सार है।

२ अन्याय—अन्याय के अनेक रूप है—व्यक्ति का व्यक्ति पर, समाज का समाज पर, व्यक्ति का समाज पर, समाज का व्यक्ति पर, एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र पर, इत्यादि। दुर्वल पर प्रवल का अन्याय विश्व की चिरन्तन समस्या है। अत्याचारी कभी शस्त्र का वल लेकर आता है, कभी सगठन-शक्ति का, कभी पैसे का, कभी कपट का और कभी विविध प्रकार के प्रलोभनो का। इसी प्रकार दुर्वलता भी शारीरिक, आर्थिक, अज्ञान-जन्य एव इच्छाओ, कामनाओ आदि अनेक रूपो मे विभक्त है। अन्याय को रोकने के लिए दो मार्ग अपनाये जाते हैं। पहला मार्ग है अन्यायी पर प्रतिबन्ध लगाने का। राज्य तथा समाज द्वारा ऐसे कानून वनाये जाते हैं,

जिससे प्रवल दुर्बल को न सता सके। किन्तु कानूनों की सख्या ज्यो-ज्यों वढ रही है, अन्याय के तरीके भी बढ रहे हैं। दूसरी ओर निर्बल को सबल बनाने का प्रयत्न किया जाता है, उसकी आर्थिक दशा को सुधारा जाता है, उन विवशताओ को दूर करने का प्रयत्न किया जाता है, जिनके कारण उसे अन्याय के चगुल मे फसना पडता है। इन सबके बावजूद अन्याय एवं अत्याचार मिटे नही है।

धर्म भी दोनो मार्गों को अपनाता है। वह अत्याचारी को अत्याचार बन्द करने के लिए कहता है। किन्तु उसका मुख्य बल पीड़ित के अन्दर छिपी हुई सबल आत्मा को जागृत करने पर है, जिसके जागृत हो जाने पर ससार की कोई शक्ति उसका उत्पीड़न नही कर सकती। धर्म कहता है—इच्छाए और कामनाए ही ऐसी विवशताए हैं जिनके कारण अन्याय एव अपमान सहने पड़ते है। इन दुर्बलताओ के दूर होते ही दुर्बल मानव शक्तिशाली बन जाता है। उसे अपनी सहायता के लिए दूसरों के सामने गिड़गिड़ाने की आवश्यकता नही रहती। वह स्वय दूसरो का आदर्श बन जाता है।

३. अभाव—अभाव एक सापेक्ष शब्द है। जो व्यक्ति अपने मन मे यह धारणा बना लेता है कि उसे रहने के लिए चार कमरो की आवश्यकता है, दो कमरे रह जाने पर वह अपने-आपको अभावग्रस्त मानता है। इसी प्रकार कपड़े, भोजन, वाहन आदि के विषय मे भी कहा जा सकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि अभाव का आधार हमारी बढती हुई इच्छाए है और इसी अभाव के कारण परस्पर सघर्ष होते रहते है। दूसरा अभाव अन्याय के रूप मे होता है। जब एक व्यक्ति अपनी आर्थिक लिप्सा अथवा अन्य स्वार्थों से प्रेरित होकर जीवन के लिए आवश्यक सामग्री पर अधिकार जमा कर बैठ जाता है और उसका उचित वितरण नही होने देता, तो विकट अभाव उत्पन्न हो जाता है। इस अभाव का कारण व्यक्ति-विशेष की उद्दाम लालसा है।

अभाव का तीसरा प्रकार प्राकृतिक अभाव है अर्थात् जब जीवन-

सामग्री इतनी कम हो जाय कि जीवन-निर्वाह मे कठिनाई पडने लगे । दुर्भिक्ष आदि के समय इसी प्रकार का अभाव होता है । जहा जीवित रहने के लिए भी पर्याप्त सामग्री उपलब्ध नही होती । इस अभाव को दूर करना मुख्यतया विज्ञान का कार्य है । साथ ही यह भी कहा जा सकता है कि यदि विश्व मे वितरण की व्यवस्था ठीक हो, राष्ट्रीय परिधियो एव सकुचित वृत्तियो को छोडकर मानव-मानव मे परस्पर मैत्री हो, तो विश्व की वर्तमान स्थिति ऐसी नही है कि किसीके जीवन-निर्वाह मे बाधा पडे । प्रथम दो प्रकार के अभाव तो पूर्णतया धर्म के ही क्षेत्र मे आते है ।

अज्ञान, अन्याय तथा अभाव से मुक्ति का नाम ही आत्म-विकास है । अनन्त ज्ञान का विकास अज्ञान दूर होने पर होता है, अनन्त सुख का विकास अभाव दूर होने पर और अनन्त शक्ति का विकास अन्याय दूर होने पर । यह इस रूप मे भी कहा जा सकता है कि आत्मा के ज्ञान-रूपी स्वाभाविक गुण की उपासना का अर्थ है अज्ञान को दूर करना, स्वाभाविक सुख की उपासना का अर्थ है अभाव को दूर करना और शक्ति की उपासना का अर्थ है अन्याय को दूर करना ।

साधारणतया आत्मतत्त्व को एक लोकोत्तर, अनिर्वचनीय, जीवन से परे की वस्तु समझकर, उसकी चर्चा को धर्म-स्थानो तक सीमित कर दिया गया है । परिणामस्वरूप उसका सम्बन्ध दैनन्दिन जीवन से टूट रहा है । किन्तु विचार करने पर उसमे प्रतिदिन की समस्याओ का समाधान मिलता है । उसकी प्रेरणा केवल परलोक के लिए नही, इस जीवन के लिए भी है । मुक्ति की आवश्यकता मरने के बाद ही नही, इस जीवन मे भी उतनी ही है । अपने प्रत्येक व्यवहार मे आत्मतत्त्व को जागृत करने की आवश्यकता है । इसीसे मानवता पनपेगी और समस्त समस्याओ का समाधान होगा । वेदान्त का सच्चिदानन्द भी अन्याय, अभाव तथा अज्ञान पर विजय का नामान्तर है ।

प्राय पूछा जाता है कि मुक्ति का क्या स्वरूप है ? वहा हम किस

रूप मे रहते है ? इत्यादि । इन प्रश्नो के उत्तर कई प्रकार से दिये जाते है । बुद्ध ने इस प्रश्न को अव्याकृत कहकर टाल दिया था । दार्शनिक इनका उत्तर किसी तत्त्व की कल्पना द्वारा देते हैं । सरल-हृदय भक्तो के लिए वह एक ऐसा स्थान है जहा भगवान् का दरबार लगा है और सगीत एव नृत्य हो रहा है । किसीके लिए वह एक रत्नो से बना हुआ चबूतरा है । ये सभी उत्तर श्रद्धालु जनता के लिए आश्वासन-मात्र है । वास्तव मे मुक्ति उस दशा का नाम है जब व्यक्ति सब बन्धनो से मुक्त हो जाता है, वह स्वाधीन हो जाता है—उसका अस्तित्व, उसका सुख, उसका ज्ञान, उसकी शक्ति, यहा तक कि कोई भी बात किसी बाह्य तत्त्व पर निर्भर नही रहती ।

उस अवस्था मे व्यक्ति को पूर्णतया स्वाधीन माना जाता है । यहा एक प्रश्न उपस्थित होता है—क्या वह दूसरे को कष्ट देने अथवा दूसरे की स्वाधीनता मे बाधा डालने के लिए भी स्वाधीन है ? इसका उत्तर स्पष्ट है । वास्तविक स्वाधीनता वही है जिसे भोगने के लिए पराधीन नही होना पडता, जिसके लिए और किसी बाह्याधार की आवश्यकता नही रहती । दूसरे को कष्ट देने के लिए 'स्व' को छोड़कर 'पर' की आवश्यकता होती है, अत वह स्वाधीनता की कोटि मे नही आता । इसी प्रकार शक्ति की पराकाष्ठा वहा है जहा लक्ष्य के रूप मे भी दूसरे की अपेक्षा नही रहती । वास्तविक सुख भी वही है जो परनिरपेक्ष है, जिसके लिए किसी बाह्य सामग्री की आवश्यकता नही रहती । ज्ञान भी वही वास्तविक है जो बाह्य वस्तु के होने या न होने की अपेक्षा नही रखता । ज्ञान, शक्ति तथा सुख के लिए परनिरपेक्ष होने की इसी अवस्था का नाम आत्म-रमण या आध्यात्मिक मुक्ति है ।

यह मुक्ति जीवन का सर्वोच्च आदर्श है । वह तभी प्राप्त हो सकती है जब भौतिक अस्तित्व समाप्त हो जाय । जबतक शरीर है, खाने-पीने, सास लेने की आवश्यकता है, तबतक पराधीनता बनी रहेगी और वह स्थिति प्राप्त नही हो सकती, किन्तु इसका अर्थ यह नही है कि इस जीवन

के साथ उस लक्ष्य का कोई सम्बन्ध नही है। जीवन तो एक यात्रा है। उस यात्रा को मगलमय बनाने के लिए लक्ष्य का परम मगल होना आवश्यक है। यात्री ज्यो-ज्यो इस ओर बढता है, ज्ञान, शक्ति तथा सुख की वृद्धि होती जाती है। यह यात्रा ही जीवन का सार है और यही धर्म का ध्येय है।

: ४ :

धर्म के तीन तत्त्व

यदि धर्म को एक शब्द मे प्रकट किया जाय तो वह शब्द समता है। वैषम्य या भेद-बुद्धि पाप का बीज है और समता धर्म का। इसके अनेक रूप है। स्व और पर मे समता, मन, वचन और कर्म मे समता, व्यवहार और विचार मे समता आदि सभी प्रकार की समताए धर्म के अन्तर्गत है।

दशवैकालिक सूत्र मे धर्म के तीन भेद किये गए है—अहिंसा, सयम और तप। वास्तव मे देखा जाय तो ये तीनो समता के विभिन्न पहलू है। स्व और पर मे समता की उपासना का ही दूसरा नाम अहिंसा है। भारतीय धर्मो मे इसका क्षेत्र मनुष्यो तक ही सीमित नही है, वरन् वह छोटे-बडे समस्त प्राणियो तक विस्तृत है। वही उपासना जब आन्तरिक जीवन की दृष्टि से की जाती है तो इसे सयम कहते है। सयम का अर्थ है, उन आकर्षणो एव आवेगो का निरोध, जो वैपम्य उत्पन्न करते है। तप वैपम्य के जमे हुए सस्कारों को दूर करने की साधना है।

१. **अहिंसा**—अहिंसा के अनेक प्रकार से अनेक भेद किये जाते हैं। व्यास ने अहिंसा की परिभाषा करते हुए कहा है कि प्राणियो के प्रति द्रोह अर्थात् ईर्ष्या एव द्वेप-बुद्धि का न होना अहिंसा है। मारना अथवा किसीके जीवन को समाप्त करना उस द्वेष-बुद्धि का बाह्य रूप है। 'तत्त्वार्थ-सूत्र' मे इन दोनो रूपो को सामने रखा है और बताया है कि प्रमत्त योग से दूसरे के प्राणो को छीन लेना हिंसा है। प्रमत्त का अर्थ है—असावधान अथवा प्रमाद से युक्त।

प्रमाद पांच है—

(१) **मद्य**—मदिरा आदि ऐसे पदार्थो का सेवन, जो व्यक्ति को

आत्म-विस्मृत कर देते है। ऐसी अवस्था मे मनुष्य अपनी सुध-बुध खो देता है और दूसरो की हिंसा करने लगता है, अथवा उन्हे कष्ट देने लगता है।

(२) विषय—इसका अर्थ है, इन्द्रियो एव मन को आकृष्ट करने वाले रूप, रस, गन्ध, शब्द तथा स्पर्श-रूप विषय। मानव सुन्दर रूप को देखने के लिए, जिह्वा-लौल्य के लिए, सुगन्ध के लिए, मधुर सगीत एव अन्य प्रकार के शब्द सुनने के लिए तथा कोमल एव सुखदायक स्पर्श के लिए अनेक प्रकार की हिंसा करता है।

(३) कषाय—क्रोध, मान, माया तथा लोभ के वशीभूत होना। ये आवेग भी हिंसा के लिए प्रेरित करते है।

(४) निद्रा—इसका व्यापक अर्थ है आलस्य। साधक को अपने कर्त्तव्य तथा लक्ष्य के प्रति सदा जागरूक रहना चाहिए। उनके प्रति असावधान होना ही निद्रा-रूप प्रमाद है।

(५) विकथा—विकथा का अर्थ है स्त्रियो के सौन्दर्य, भोजन के विविध स्वाद, लडाई-झगडे तथा इसी प्रकार की अन्य बाते करते रहना और उनमे रस लेना। ऐसा व्यक्ति अपने लक्ष्य को भूल जाता है, जीवन को व्यर्थ नष्ट करता है तथा आत्मा मे कुसस्कारो की वृद्धि करता है।

उपर्युक्त पाचो प्रमाद सयम के प्रतिकूल है।

प्राण दस है—पाच इन्द्रिया, मन, वचन और काय, श्वासोच्छ्वास तथा आयुष्य। इन दसो में से किसीको भी क्षति पहुचाना हिंसा है। दूसरे के देखने अथवा सुनने पर प्रतिबन्ध लगाना, उसके स्वतन्त्र घूमने मे अडचन डालना, स्वतन्त्र भाषण एव स्वतन्त्र चिन्तन पर रोक लगाना आदि सभी कार्य हिंसा के अन्तर्गत आते हैं। किसीके घर के सामने ऊची दीवार खडी करके खुली हवा मे सास लेने के उसके अधिकार को छीन लेना भी हिंसा है। मारना तो हिंसा है ही।

यहा एक प्रश्न उपस्थित होता है। यदि प्रत्येक व्यक्ति को पूरी स्वाधीनता दे दी जाय तो समाज का सचालन ही न हो सकेगा। हर एक

दूसरे के अधिकार को छीनकर अपने सुख की वृद्धि करना चाहेगा। क्या ऐसी स्थिति मे नियन्त्रण करना आवश्यक नही है? क्या यह भी हिंसा है? इसका उत्तर स्पष्ट है। यद्यपि नियन्त्रण करना हिंसा ही है किन्तु वह वडी हिंसा को रोकने के लिए की जानेवाली छोटी हिंसा है। जो व्यक्ति अपनी हलचल द्वारा समाज मे हिंसा व भय का वातावरण उत्पन्न कर रहा है, उसका दमन करना शान्तिप्रिय गृहस्थ का कर्त्तव्य हो जाता है। वास्तव मे उसका उद्देश्य दमन नही होता, बल्कि एक का दमन करके वहुसख्यक जनता को भय से मुक्त करना होता है। उसका कार्य प्रमाद से प्रेरित नही है, अत वह हिंसा नही रहता। यदि दमन अपने किसी स्वार्थ के लिए किया जाता है तो वह अवश्य हिंसा है।

२. **संयम**—अहिंसा का पालन सयम के बिना नही हो सकता। सयम का अर्थ है अपनी कामनाओ तथा मानसिक वेगो पर नियन्त्रण; मन तथा इन्द्रियो को बाहर की ओर जाने से रोकना। यह जीवन का एक आवश्यक तत्त्व है। सयम-हीन अर्थात् शिथिल जीवन कही सफलता नही प्राप्त कर सकता। समस्त धार्मिक परम्पराओ मे इसका विस्तार के साथ प्रतिपादन किया है। पतञ्जलि ने योग के तीन अगो अर्थात् धारणा, ध्यान व समाधि को किसी एक ही लक्ष्य मे स्थिर करने का नाम सयम बताया है। जैन परम्परा मे पाच महाव्रतो को सयम बताया है। वे है—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। इनके अतिरिक्त पाचो इन्द्रियो तथा मन, वचन और काया की बाह्य प्रवृत्ति को रोकना भी सयम है। क्रोध, मान, माया और लोभ-रूप कषायो का निरोध भी सयम के अन्तर्गत है। इस प्रकार इसके सत्रह भेद किये गए है। पाच महाव्रतो का पूर्णतया पालन सयम कहा जाता है जो कि साधु का जीवन-व्रत है। उन्हीका अशत पालन सयमासयम कहा जाता है। जिसका विधान गृहस्थ अर्थात् श्रावको के लिए किया गया है।

बौद्ध धर्म मे सयम के स्थान पर शील शब्द मिलता है। पाचवें महाव्रत अपरिग्रह के स्थान पर वहा मादक वस्तुओ का निषेध है। यहा

इस चर्चा मे अधिक उतरने की आवश्यकता नही है। इतना ही समझ लेना पर्याप्त है कि सयम नैतिकता की आधारशिला है और धर्म का प्रमुख तत्त्व है।

३ तप—तप उस कष्ट का नाम है जिसे व्यक्ति आध्यात्मिक उन्नति के लिए स्वेच्छापूर्वक अपनाता है। कुसस्कारो को दूर करने तथा सुसस्कारो को विकसित करने के लिए तप आवश्यक तत्त्व है, साथ ही समता की भावना जागृत करने के लिए भी तप आवश्यक है। जब हम दो दिन उपवास करते है, तभी हमे किसी क्षुधातुर व्यक्ति के कष्ट का आभास मिलता है।

स्वाध्याय, दूसरो की सेवा, मन की एकागता, दान, उपवास अथवा अल्पाहार, भोजन-सम्बन्धी निग्रह आदि सभी तप. के विविध रूप है। उपनिषदो मे आता है कि तप के द्वारा ब्रह्म अर्थात् आत्म-तत्त्व की खोज करो। भगवद्गीता ने इसीको अनासक्ति के रूप मे प्रकट किया है। पातञ्जल दर्शन मे इसीका नाम योग है। आन्तरिक दुर्बलताओ को दूर करने के लिए तप ही एकमात्र साधन है। सुदृढ, सुखी तथा सामर्थ्यवान् व्यक्तित्व का विकास करने के लिए जीवन मे अहिंसा, सयम और तप को उतारने की अनिवार्य आवश्यकता है।

: ५ :

धर्म का प्रथम सोपान

धर्म का प्रारम्भ सम्यक् दर्शन से होता है। इसका अर्थ है जीवन के प्रति यथार्थ दृष्टिकोण। जिस दिन व्यक्ति मूल्याकन के सापेक्ष मापदण्डो को छोडकर निरपेक्ष एव उच्चतम मापदण्ड को अपनाता है, उसे अपना ध्येय मानता है, अशाश्वत से शाश्वत की ओर, मिथ्यात्व से सम्यक्त्व की ओर, आडम्बर से वास्तविकता की ओर, अविद्या से विद्या की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर, परावलम्बन से स्वावलम्बन की ओर वढना अपना ध्येय मानने लगता है, उसी दिन वह सम्यग्-दृष्टि वन जाता है। इस निर्णय के मुख्य तीन तत्त्व है—आदर्श, पथ-प्रदर्शक और पथ। जो व्यक्ति ज्ञान, सुख तथा शक्ति की उच्चतम भूमिका पर पहुच चुके है वे आदर्श है। जो उस ओर स्वय वढ रहे है और दूसरो को वढने के लिए आह्वान कर रहे है, वे पथ-प्रदर्शक है और उच्चतम भूमिका पर पहुचे हुए सफल व्यक्तियो ने अपने जो अनुभव वताये है, वे पथ है। जैन धर्म मे इन तत्त्वो को क्रमश देव, गुरु तथा धर्म शब्द मे प्रकट किया गया है। आध्यात्मिक विकास को लक्ष्य माननेवाली सभी परम्पराओ ने विकास के प्रथम सोपान के रूप मे सम्यक् दर्शन को माना है। वेदान्त मे इसका प्रतिपादन अधिकारी-निरूपण के रूप में किया जाता है। वहा इस यात्रा का अधिकारी उसी व्यक्ति को माना है जो चारो साधनो से सम्पन्न है। वे निम्नलिखित है :

१. नित्यानित्यवस्तुविवेक—साधना के पथिक को सर्व-प्रथम यह विवेक होना चाहिए कि नित्य क्या है और अनित्य क्या है। अशाश्वत से शाश्वत की ओर वढने के लिए यह विवेक अनिवार्य है। उसे यह विश्वास

३ निषिद्ध—हत्या, सुरा-पान आदि कार्य, जिनका निषेध किया गया है।

मुमुक्षु के लिए अन्तिम दो प्रकारो को हेय माना गया है और प्रथम अर्थात् नित्य-नैमित्तिक को उपादेय। चिरकाल तक बिना किसी स्वार्थ के अपने कर्त्तव्य का पालन करते रहने से आवश्यक चित्त-शुद्धि होती है, जिससे व्यक्ति का झुकाव अन्तर्मुखी हो जाता है।

बौद्ध परम्परा मे ऐसे व्यक्ति को 'स्रोतापन्न' कहा गया है, अर्थात् जो इधर-उधर भटकना छोड़कर निर्वाण-स्रोत मे आ गया है। योगदर्शन मे चित्त की उपमा एक नदी से दी है और बताया है कि वह नदी दोनो ओर बहती है, कभी ससार की ओर, कभी कैवल्य अर्थात् मुक्ति की ओर। चित्त-रूपी नदी का कैवल्य की ओर बहना ही सम्यक् दर्शन है। पतञ्जलि ने चित्त की पाच भूमिया बताई है—१. क्षिप्त, २ मूढ, ३ विक्षिप्त, ४ एकाग्र और ५ निरुद्ध। क्षिप्त का अर्थ है चित्त का बाह्य विषयो मे फसे रहना। इसमे रजोगुण की प्रधानता रहती है। मूढ का अर्थ है—आलस्य, अविवेक, अज्ञानता आदि के कारण चित्त का अबोध-अवस्था मे पडे रहना, जहा हिताहित का भान ही नही रहता, जहा स्वार्थ अथवा परमार्थ किसी ओर प्रयत्न नही होता। इसमे तमोगुण का प्राधान्य रहता है। विक्षिप्त वह अवस्था है जहा चित्त की वृत्ति अस्थिर रहती है। कभी एकाग्रता की ओर झुकती है और कभी चचल हो उठती है। इसमें सत्त्व और रजस् बारी-बारी से प्रभावित करते रहते है। एकाग्र अवस्था मे मन किसी एक ही केन्द्र पर स्थिर हो जाता है। इसीको सम्प्रज्ञात समाधि कहते है। यहा सत्त्वगुण का प्राधान्य रहता है। निरुद्ध अवस्था मे मन विचारो से शून्य हो जाता है। यह गुणातीत अवस्था है। इन पाच भूमिकाओ मे प्रथम तीन ससार की ओर होनेवाले प्रवाह को प्रकट करती है और अन्तिम दो कैवल्य की ओर।

जैन धर्म मे सम्यक् दर्शन के दो रूप है—आभ्यन्तर और बाह्य।

आभ्यन्तर रूप आत्मा की निर्मलता से सम्बन्ध रखता है और बाह्य विश्वास के साथ ।

आत्मा अनादि काल से ससार मे भटक रहा है। वह एक ऐसे यात्री के समान है जो अपना रास्ता भूल गया है और जगल मे विना किसी लक्ष्य के इधर-उधर घूम रहा है। घूमते-घूमते वह अनेक वार मार्ग के समीप भी पहुच जाता है, किन्तु उसे पहचान नही पाता। फिर जगल की ओर चल देता है और भटकने लगता है। इस प्रकार मार्ग के समीप आने को यथाप्रवृत्तिकरण कहते हैं। एक दिन ऐसा आता है जब वह मार्ग के समीप पहुचता है और उसी समय कोई पथ-दर्शक मिल जाता है, अथवा उसकी अन्तश्चेतना उद्बुद्ध हो जाती है और उसे भान हो जाता है कि यही वह मार्ग है जिसके द्वारा वह अपने लक्ष्य पर पहुच सकेगा। इस प्रकार का भान अनादि काल से चले आते हुए जीवन मे सर्वथा नवीन होता है। उसके पश्चात् यात्री पथ-भ्रष्ट नही होता। उसे अपूर्वकरण कहते हैं।

जब यात्री सकल्प, विकल्प तथा सन्देहादि निर्बलताओ को छोडकर उस पथ पर चलने का दृढ निश्चय कर लेता है, वापस लौटने का विचार छोड देता है, तो उसे अनिवृत्तिकरण कहते है। इसीको 'ग्रन्थि-भेद' भी कहा जाता है, अर्थात् साधक मिथ्यात्व अथवा विपरीत दृष्टि की गाठ को खोल देता है और परमात्म-पद की यात्रा का पथिक वन जाता है।

जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक आत्मा स्वभाव से शुद्ध है किन्तु कर्मों के कारण ससार मे भटक रही हे। कर्म वे कुसस्कार है जो आत्मा को मलिन वना देते हैं। उनमे से भी मोहनीय कर्म सबसे अधिक वलवान् है। जबतक उसका प्रभाव रहता है, जीव की दृष्टि विपरीत रहती है और वह अध्यात्म-पथ पर नही चल सकता। मोहनीय के दो भेद है—दर्शन-मोहनीय और चरित्र-मोहनीय। दर्शन-मोहनीय दृष्टि को विपरीत वनाये रखता है। उसके रहते हुए व्यक्ति वास्तविक लक्ष्य को पहचान ही नही पाता। चरित्र-मोहनीय उसकी शक्ति को कुण्ठित कर देता है; परिणाम-स्वरूप सत्य के पथ पर चलने का वल क्षीण हो जाता है। वासनाओ

तथा मनोवेगो का नाम ही चरित्र-मोहनीय है। इसका विभाजन क्रोध, मान, माया तथा लोभ-रूप चार कषायो मे किया गया है। प्रत्येक की चार-चार श्रेणिया हैं—१. तीव्रतम, २ तीव्र, ३. मन्द और ४ मन्दतम। व्यक्ति ज्यो-ज्यो इन श्रेणियो को पार करता जाता है, आध्यात्मिक दृष्टि से ऊचा उठता जाता है। प्रथम अर्थात् तीव्रतम श्रेणीवाला जीव इस पथ का अधिकारी नही होता। जबतक तीव्रतम क्रोध, मान, माया, लोभ तथा दर्शन-मोहनीय का उपशम अथवा क्षय नही करता, तबतक सम्यक् दर्शन की प्राप्ति नही होती। इसके लिए कषायो का मन्द होना तथा सत्य की अभिलाषा आवश्यक है।

सम्यक् दर्शन का बाह्य रूप देव, गुरु तथा धर्म मे विश्वास है। इन तीनो को आदर्श, पथप्रदर्शक तथा पथ के रूप मे बताया जा चुका है। देव और गुरु के रूप मे जैन धर्म किसी व्यक्ति को उपस्थित नही करता। अपेक्षित आत्मशुद्धि से सम्पन्न कोई व्यक्ति हो, कही जन्मा हो, किसी सम्प्रदाय से सम्बद्ध हो, किसी प्रकार के वस्त्र धारण करता हो, वह वन्दनीय है एव उपास्य है।

जैन धर्म मे जिस नमस्कार-मन्त्र का प्रत्येक शुभ कार्य के प्रारम्भ मे पाठ किया जाता है उसमे भी किसी व्यक्ति-विशेष का वन्दन नही है। उसके पाच पदो मे प्रथम दो पद देवतत्त्व से सम्बन्ध रखते है। उनमे उन व्यक्तियो की वन्दना की गई है जिन्होने आत्मा का पूर्ण विकास कर लिया है। शेष तीन पदो मे उन यात्रियो को नमस्कार है जो उस पथ पर चल रहे है तथा उसके प्रसार के लिए विविध पदो को सभाले हुए है।

फिर भी इस बात से इन्कार नही किया जा सकता कि साम्प्रदायिकता से दूर रहकर चलनेवाली जैन परम्परा भी धीरे-धीरे सम्प्रदाय बन गई। उसके उदार तत्त्व केवल चर्चा की वस्तु रह गए हैं।

सम्यक् दर्शन के तीन रूप

हम लोग अनेक बातो मे विश्वास करते है, किन्तु सभी विश्वास एक ही कोटि के नही होते। कुछ विश्वास ऐसे होते है जो जीवन की दिशा

वदल देते है, कुछ केवल प्रदर्शन अथवा बातें बनाने के लिए होते हैं। ऐसे विश्वासो का जीवन के साथ विशेष सम्बन्ध नही रहता। इस आधार पर जैन शास्त्रो मे सम्यक् दर्शन या सत्यनिष्ठा को तीन श्रेणियो मे विभक्त किया है—

१ कारक—यह सम्यक् दर्शन विश्वास के अनुसार चलने के लिए प्रेरित करता है। आत्मा मे इस प्रकार का विश्वास होने पर जीवन-दिशा अवश्य वदल जायगी। फिर ऐसा नहीं हो सकता कि उपदेश की वात और रहे और जीवन की और। यह विश्वास कर्म और वाणी मे दूरी नही आने देता।

२. रोचक—इसका अर्थ है रुचि को उत्पन्न करना। वहुत वार ऐसा होता है कि कोई वात अच्छी तो लगती है, उसपर विश्वास करने को जी चाहता है, किन्तु उसे जीवन मे उतारने का साहस नही होता। विश्वास कार्य-रूप मे परिणत नही हो पाता। ऐसा सम्यक् दर्शक रोचक कहलाता है।

३. दीपक—दीपक अन्धकार को दूर करता है और वस्तुओ को प्रकाशित करता है, किन्तु उससे स्वय कोई लाभ नही उठाता। इसी प्रकार तत्त्वो का विवेचन करना, उन्हें दूसरो को समझाना, किन्तु स्वय कुछ न करना दीपक नाम का सम्यक्त्व है। क्रियाहीन ज्ञान इसी कोटि मे आता है। धर्म का वास्तविक अग कारक सम्यक्त्व ही है। रोचक और दीपक साम्प्रदायिकता का पोषण करते है। जीवन के साथ उनका विशेष सम्बन्ध नही रहता।

: ६ :

साधना के विविध रूप

जब हम विश्व की भिन्न-भिन्न जातियो एव समाजो मे प्रचलित धार्मिक विश्वासों एव अनुष्ठानो को देखते है तो उनकी विविधता पर आश्चर्य होता है। किन्तु यदि उनका गम्भीर अध्ययन, विश्लेषण एव वर्गीकरण किया जाय तो पता चलता है कि मनुष्य की पूजा, साधना अथवा जिज्ञासा का लक्ष्य या तो प्रकृति रही है या मनुष्य स्वय और या कोई अतीन्द्रिय परम तत्त्व, जो प्रकृति और मनुष्य मे व्याप्त भी है और उनसे परे भी है।

यहूदी परम्परा ने विश्व के तीन महान् धर्मो को जन्म दिया—यहूदी, ईसाई और इस्लाम। इन तीनो मे ईश्वर को व्यक्ति के रूप मे पूजा जाता है। उसके आकार की कल्पना मनुष्य अपनी भावनाओ या स्वार्थो के अनुसार करता है। इसलिए हम इस पूजा को व्यक्ति-पूजा या प्रकृति-पूजा कह सकते है। वहा ईश्वर एक न्यायाधीश के समान है जो दण्ड और अनुग्रह का कार्य करता रहता है। भक्त उसके सामने विनम्र, भयभीत, दया की भीख मांगते हुए उपस्थित होता है। किन्तु भारत मे अतीन्द्रिय परम तत्त्व को उपास्य माना गया है। वेदान्त के अनुसार वह परम तत्त्व अतीन्द्रिय एव अन्तिम सत्य है। वह जीव का अपना स्वरूप है। इसलिए जीव उसके पास डरता हुआ नही पहुचता। जिस प्रकार बिछुड़ा हुआ बच्चा अपनी माता से मिलने के लिए व्याकुल रहता है और ज्यो-ज्यो उसके समीप पहुंचता है, आनन्द का अनुभव करता है, उसी प्रकार जीवन अज्ञानवश अपने को ब्रह्म से अलग मान रहा है। इसीलिए बेचैन है। ज्यो-ज्यो ब्रह्म की ओर बढ़ता है, आनन्द की वृद्धि होती जाती है।

अन्त मे वह स्वय ब्रह्म बन जाता है, तभी पूर्ण आनन्द को प्राप्त करता है। यहा साधना का अर्थ अपने से भिन्न व्यक्ति की पूजा नही है, वल्कि अपने विस्मृत स्वरूप का अन्वेषण है। बुद्ध ने कहा—"सर्व शून्य शून्यम् ।" अर्थात् वास्तविकता शून्य-रूप है। उस शून्य मे मिलने का नाम निर्वाण है। निर्वाण का शव्दार्थ है, वुझ जाना। वासना एव सस्कारो की जलती हुई दीपशिखा ही ससार एव वन्धन है, उसका वुझ जाना निर्वाण है। यही साधक का चरम लक्ष्य है। यहा साधना का अर्थ है वासना एव सस्कारो के सचित कोश को घटाते जाना। इस प्रकार वौद्ध साधना विशुद्धि पर जोर देती है।

जैन धर्म मे भी साधना का अर्थ आत्म-शुद्धि है। स्वय आत्मा ही परमात्मा है। वह अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य का केन्द्र है, फिर भी कर्मों के कारण दीन-हीन वना हुआ है। कर्मों की कैद से छूटकर अपने वास्तविक रूप को प्राप्त कर लेना ही जैन साधना का लक्ष्य है।

मुसलमान, ईसाई एव यहूदी साधकों ने भी कालान्तर मे परम तत्त्व को अपनी साधना का लक्ष्य वनाया है। सूफी परम्परा और अद्वैत-वेदान्त एक ही मार्ग के प्रतिपादक है, फिर भी यहूदी परम्पराओ ने ईश्वर को जीव से अभिन्न नही माना। भारत मे वह परम्परा पुराणो मे मिलती है, जहा भगवान् शाप और वर देनेवाला व्यक्ति है।

भक्ति-परम्परा का विकास इसी रूप को लेकर हुआ है। फिर भी भारतीय और यहूदी परम्पराओ मे परस्पर मौलिक भेद है। भारतीय परम्परा मे उपास्य माता, पिता, प्रेमी या मित्र है। उपासक उसे अपना प्रिय जन मानता है और लाखो दोप होने पर भी उसके पास पहुचने मे नही हिचकिचाता। हृदय मे उसके प्रति स्नेह होना ही सबसे वडा अधिकार है। इसके विपरीत यहूदी परम्पराओ मे उपासक उपास्य के पास भयभीत होकर जाता है। उसके सामने कापता है, गिडगिडाता है और तोवा करता है। भारतीय परम्पराओ मे मनुष्य अपने-आप मे शुद्ध तथा

निर्मल है। विकारों का कारण वाह्य मलिनता है। भक्ति से प्रेरित भावुक हृदय उस मलिनता को धो डालता है और अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। इसके विपरीत यहूदी परम्पराओ मे मानव अपने-आप मे दुष्ट तथा पापी है। भय के कारण ही वह दुराचार से दूर रहता है। भारतीय परम्पराओ मे सदाचार स्वभाव है और दुराचार एक विकृति, यहूदी परम्पराओ मे दुराचार स्वभाव है और सदाचार एक विकृति।

योग-परम्परा मे साधना का मुख्य रूप मन की एकाग्रता है। उसका कथन है कि हमारा मन अनन्त शक्तियो का भडार है। किन्तु विक्षिप्त अर्थात् चचल होने के कारण उन शक्तियो का विकास नही हो पाता। ज्यो-ज्यो एकाग्रता वढती है, शक्तिया प्रकट होती जाती है। इस एकाग्रता के लिए अवलम्वन के रूप मे अनेक सुझाव दिये गए है। सर्वप्रथम दो बातो की आवश्यकता है निरन्तर अभ्यास और बाह्य आकर्षणो से विरक्ति। अभ्यास को दृढ करने के लिए तीन बाते वताई गई है। उसे लम्वे समय तक जारी रक्खा जाय, बीच मे किसी प्रकार का विघ्न न आने दिया जाय और एकाग्रता के लक्ष्य की ओर सत्कार-बुद्धि बनी रहे। अभ्यास के लक्ष्य के रूप मे ईश्वर, श्वास या किसी भी अभीष्ट वस्तु को अपनाया जा सकता है।

भगवद्गीता मे कर्म को भी साधना का रूप वताया गया है। गीता का कथन है प्रत्येक व्यक्ति को अपने-अपने कर्त्तव्य का पालन करना चाहिए और उसपर दृढ रहना चाहिए। कर्त्तव्य का पालन ही ईश्वर की पूजा है और उसीके द्वारा सिद्धि प्राप्त होती है। अपना कर्त्तव्य छोडकर दूसरे के कर्त्तव्य की ओर झुकना ठीक नही है। सामाजिक व्यवस्था को कायम रखने के लिए साधना का यह मार्ग अत्यन्त उपयोगी है। मशीन का प्रत्येक पुर्जा अपने-अपने स्थान मे वडा है और उसकी अनिवार्य आवश्यकता है। यदि वह दूसरे पुर्जे के स्थान पर जाकर काम करना चाहता है तो वह निष्फल ही नही, प्रत्युत वाधक वन जाता है। समाज-रूपी मशीन के लिए भी यह आवश्यक है कि प्रत्येक पुर्जा अपने स्थान पर रहे।

तान्त्रिक साधना मे भेद-बुद्धि को मिटाने पर वल दिया गया है। वहा वताया गया है कि जवतक स्व और पर, भक्ष्य और अभक्ष्य, गम्य और अगम्य, पवित्र और अपवित्र, पूज्य और अपूज्य आदि द्वन्द्व चलते रहेंगे, तवतक मुक्ति या शान्ति नही प्राप्त हो सकती। अत इन द्वन्द्वों को मिटा देना चाहिए। वास्तव मे देखा जाय तो ससार और निर्वाण मे भी कोई भेद नही है। इन द्वन्द्वो का मन मे रहना ससार है और इनसे छुटकारा मुक्ति।

खण्ड ३

: १ :

धर्म-संस्था का जन्म

धर्मसस्था का सर्वप्रथम आविर्भाव कब हुआ, इसके लिए ऐतिहासिक दृष्टि से कुछ नही कहा जा सकता । प्रतीत होता हैं डार्विन ने 'अस्तित्व के लिए सघर्ष' के जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, वही धर्मसस्था की उत्पत्ति का कारण है । यदि मनुष्य सिंह और व्याघ्र के समान अहिंसा और परस्पर-सहायता की भावना से शून्य होता तो जीवित नही रह सकता था । मानव-शिशु इतना असहाय उत्पन्न होता है कि उसके सरक्षण के लिए दूसरो की सहायता अनिवार्य है । बडा होने पर भी मनुष्य अकेला नही रह सकता । अत यह आवश्यक होगया कि वह अहिंसा तथा परस्पर-सहायता का पाठ सीखे, जिससे परिवार के लोग मिलकर पारस्परिक सरक्षण एव पोपण मे सहायक हो सके । धर्म शब्द भी इसी अर्थ को प्रकट करता है । यह सस्कृत की 'धृ' धातु से बना है, जिसका अर्थ है 'धारण करना' । व्यक्ति अथवा समाज को स्व-अस्तित्व बनाये रखने के लिए जिन तत्त्वो की आवश्यकता है, वे सभी धर्म है । भारत की धार्मिक परम्पराए भी उपर्युक्त तथ्य का समर्थन करती हैं । वैदिक परम्परा के अनुसार मनु प्रथम राजा थे और प्रथम धर्म-प्रवर्तक । मानव-धर्मशास्त्र के नाम से प्रचलित मनु-स्मृति नाम का ग्रन्थ हिन्दू धर्म एव राज्य-व्यवस्था का आदि-ग्रन्थ है । जैन परम्परा मे विश्व एक काल-चक्र माना गया है, जो अनवरत घूमता रहता है । इसमे बारह 'आरे' है । घूमते समय छह नीचे की ओर आते है और छह ऊपर की ओर । नीचे की ओर जाने के क्रम को अवसर्पिणी काल कहा जाता है और ऊपर की ओर वाले क्रम को

उत्सर्पिणी काल । अवसर्पिणी मे धर्म, आयु, शारीरिक शक्ति, नैतिकता समृद्धि आदि का उत्तरोत्तर ह्रास होता जाता है और उत्सर्पिणी मे विकास। विकास और ह्रास का यह क्रम सतत चलता रहता है, अत जैन धर्म न विकासवादी है, न ह्रासवादी, वल्कि परिवर्तनवादी है । धर्म-सस्था का जन्म प्रत्येक काल के मध्य मे होता है । उत्सर्पिणी का आदिकाल पाप एव दु खो से परिपूर्ण होता है और अन्तिम काल सुख एव समृद्धि से । इसके विपरीत अवसर्पिणी का आदिकाल सुखमय होता है और अन्तिम दु खमय । उत्सर्पिणी का छठा और अवसर्पिणी का प्रथम आरा एक सरीखे होते हैं । इसी प्रकार अवसर्पिणी का छठा और उत्सर्पिणी का प्रथम । इन आरो मे न धर्म-सस्था का अस्तित्व होता है और न राज्य-सस्था का। प्रस्तुत काल अवसर्पिणी माना जाता है । इसमे सभी बातें हीयमान है । कहा जाता है कि प्रथम दो आरो तथा तृतीय के तीन चरणो मे युगल धर्म था । मनुष्य वृक्षों से स्वत.प्राप्त फल-मूल आदि उपहारो पर निर्वाह करते थे और वे उन्हे इतनी मात्रा मे मिलते थे कि परस्पर सघर्ष का अवसर ही न आता था। प्रत्येक युगल के एक कन्या और एक पुत्र के रूप मे सन्तान होती थी और वे ही बडे होकर पति-पत्नी बन जाते थे । उस समय यह देश भोग-भूमि कहा जाता था, अर्थात् निर्वाह के लिए किसी प्रकार का कर्म न करना पडता था, । उस समय न राज्य-सस्था थी और न धर्म-सस्था ।

तृतीय आरे के अन्त मे प्रकृति के उपहार कम होगए । परिणाम-स्वरूप सग्रह-बुद्धि आई और परस्पर-सघर्ष होने लगे । उधर अकाल-मृत्यु के कारण युगल व्यवस्था भी टूट गई । परिणामस्वरूप एक पुरुप ने दो स्त्रियो से विवाह किया । उसी समय राज्य-सस्था की नीव पडी और धर्म-सस्था भी उसी समय अस्तित्व मे आई । राज्य-सस्था ने दण्ड या ऐहिक भय के आधार पर व्यक्ति को नियम मे रखने का प्रयत्न किया और धर्म-सस्था ने हृदय-शुद्धि एव परलोक-भय के द्वारा । इस प्रकार दोनो सस्थाए एक ही समय मे एक ही लक्ष्य को लेकर उत्पन्न हुई । किन्तु धीरे-

धीरे धर्म-सस्था अन्तर्मुखी होती गई और विकसित होकर उसने आध्यात्मिक रूप ले लिया।

ऊपर बताया गया है कि धर्म-सस्था का जन्म स्व-अस्तित्व या सरक्षण की आवश्यकता को लेकर हुआ। इसमे दो तत्त्व मिले हुए है—पहला 'स्व' तथा दूसरा 'रक्षा के साधन।' इन दोनो तत्त्वो से सम्बन्ध रखनेवाली धारणाए जैसे-जैसे बदलती गई, धर्म का रूप भी बदलता गया और वह कौटुम्बिक व्यवस्था की सीमा से निकलकर सर्व-व्यापी वन गया। जाति-विज्ञान (ethnology) का मत है कि प्रारम्भ मे मनुष्य छोटे-छोटे कुलो मे रहता था। विभिन्न कुलो मे परस्पर युद्ध होते रहते थे और प्राय पराजित कुल विजेता द्वारा समाप्त कर दिया जाता था। उसके सभी सदस्य मार दिये जाते थे। उस समय 'स्व' का अर्थ अपना कुल था और धर्म-भावना भी वही तक सीमित थी। प्रत्येक कुल के सदस्य उसके अन्तर्गत अन्य सदस्यो के प्रति अहिसक एव सद्भावपूर्ण होते थे, किन्तु दूसरो के प्रति हिसक, स्वार्थी और क्रूर। धीरे-धीरे कुलों का आकार बढा और वे छोटी-बडी जातियो के रूप में परिणत होगए। उस समय धर्म का रूप भी उसी अनुपात मे बदला। अपनी जाति के अन्तर्गत परस्पर सद्भावना से रहना धर्म और किसीको लूटना, मारना या अन्य प्रकार से कष्ट देना पाप समझा जाने लगा। किन्तु उस परिधि से बाहर न तो सद्भावना की आवश्यकता समझी गई और न दूसरो पर अत्याचार करने मे किसी प्रकार का पाप माना गया। अब भी ऐसे धर्म विद्यमान है, जो उपर्युक्त मान्यता पर आधारित है। यहूदी धर्म के अनुयायी अपने को ईश्वर के कुछ चुने हुए व्यक्तियो के रूप मे मानते है। उनका कहना है कि ईश्वर ने सुख-समृद्धि देने के लिए उन्हीको चुना है। अत अन्य व्यक्तियो को मारने, लूटने और उनपर अत्याचार करने मे कोई पाप नही है। जब वैदिक आर्य भारत मे आये तो उनकी भी ऐसी ही मान्यता थी, उनकी भी धार्मिक मर्यादाए या प्रतिबन्ध अपनी ही जाति तक सीमित थे। उन्होंने भी धर्म के नाम पर यहा के मूल निवासियो पर अत्याचार किये।

वहुत-सी जातियो मे अव भी जात्यन्तर विद्वेप धर्म का अग माना जाता है। एक जातिवाले दूमरी जाति पर अत्याचार करना धर्म की सेवा समझते है। मुसलमानो और काफिरो, आर्यों और म्लेच्छो, ईसाइयो और यहूदियो, चीनियो और जैण्टीलो आदि के पारस्परिक सम्बन्ध हजारो वर्षों से इसी प्रकार के चले आ रहे है। वीसवी शताब्दी भी इसके प्रभाव से मुक्त न रह सकी। जर्मनी के नाज़ियो ने यहूदियो पर जो अत्याचार किये, वे सर्वविदित है। सन् १९४७ मे धर्म का वही विकराल रूप भारत तथा पाकिस्तान मे देखा गया।

इस प्रकार जो धर्म जाति, समाज या राष्ट्र की सीमा से आगे नही वढ सके, वे अपने-अपने वर्ग मे कल्याणकारी होने पर भी विश्व के लिए मगलकारी न वन सके। यदि एक ओर उनके वरदान और दूसरी ओर अभिशापो को रखा जाय, तो यह नही कहा जा सकता कि वरदान का पलडा भारी होगा।

किन्तु इसका यह अर्थ नही है कि धर्म-सस्था मानवता का अभिशाप-मात्र है। भारत एव अन्य देशो में ऐमी वहुत-सी परम्पराए जन्मी एव विकसित हुई जो जाति, समाज एव राष्ट्र की सीमाओ से परे थी; जिन्होंने सवके कल्याण की कामना की तथा सवके साथ अपनी मित्रता प्रकट की। यह वात दूसरी है कि उन परम्पराओ का नाम लेकर व्यक्ति अहकार तथा स्वार्थो का पोपण करने लगा। परिणामस्वरूप हिंसात्मक सघर्पो में उतर पडा, किन्तु इसके लिए उन परम्पराओ के प्रवर्त्तको तथा सिद्धान्तो को दोप नही दिया जा सकता। वास्तव मे देखा जाय तो जव उनका प्रभाव घट गया, जीवन के साथ उनका सम्पर्क नही रहा और उनका नाम लेकर मिथ्या अभिमान का पोपण किया जाने लगा, तव ही व्यक्ति अमगल की ओर प्रवृत्त हुआ। धार्मिक युद्ध ऐसी परम्पराओ के/जीवित आदर्शो पर नही, वल्कि शवो पर हुए हैं। मानव ने पहले उन परम्पराओ की हत्या की, और तव वह दूसरे मानवो की हत्या के लिए प्रवृत्त हुआ।

: २ :

धर्म-संस्था के दो रूप

विश्व की प्रमुख धार्मिक परम्पराओ को दो भागो मे विभक्त किया जा सकता है। कुछ परम्पराए जो जाति, समाज या राष्ट्र-विशेष को मूल आवार मानकर चली, उन्हे 'जातीय धर्म' कहा जायगा। दूसरी परम्पराए जो समस्त विश्वकल्याण को लक्ष्य में रखकर प्रवृत्त हुई, उन्हे 'विश्व-धर्म' कहा जायगा। भारत मे इस समय जो धार्मिक परम्पराए प्रचलित है, उनमे दोनों तत्त्वो का मिश्रण मिलता है। प्रारम्भ की दृष्टि से उन्हें दो धाराओ मे विभाजित किया जा सकता है—पहली 'श्रमण' और दूसरी 'ब्राह्मण'। दोनो का तुलनात्मक परिचय आगे दिया जायगा। यहा इतना ही जान लेना पर्याप्त है कि श्रमण-परम्परा जाति या राष्ट्र की परिधियो को नही मानती। उसमे मानव ही नही, समस्त प्राणी समान है। दूसरी ओर ब्राह्मण-परम्परा मानव तथा मानव मे जन्मगत भेद मानती है। उसमे भौगोलिक सीमाओं को भी महत्त्व दिया गया है, उसके द्वारा स्वीकृत पवित्र नदिया, पवित्र पर्वत, पवित्र स्थान एव पवित्र वन सभी भारत तक सीमित हैं। किन्तु जन्म-काल मे जातीय धर्म होने पर भी ब्राह्मण-परम्परा ने विकास करते हुए विश्व-धर्म का रूप ले लिया, जिसका परिचय उपनिषदो मे मिलता है। वहा पर समस्त विश्व की आधारभूत एकता पर वल दिया गया है और उसे ही सत्य वताया गया है। समस्त वाह्य भेदो को निराधार तथा कल्पित वताया गया है। वर्तमान हिन्दू धर्म दोनो का मिश्रण है। वह सिद्धान्त मे विश्व-धर्म है और व्यवहार मे जातीय धर्म। भारत की दो अन्य परम्पराएं जैन तथा वौद्ध हैं। ये श्रमण-परम्परा की शाखाए हैं। जैन धर्म सैद्धान्तिक दृष्टि से विश्व-धर्म होने पर भी अपनी

कठोर मर्यादाओ के कारण न राजधर्म बन सका और न भारत के बाहर जा सका। सम्राट् अशोक का आश्रय पाकर बौद्ध धर्म भारत से बाहर पहुचा तथा समस्त भू-खण्ड पर फैल गया। भारत मे चौथी परम्परा पारसियो की है। इसका जन्म ईरान में हुआ, किन्तु अब वहां इसका अस्तित्व नही है। इसका स्थान इस्लाम ने ले लिया है। भारत मे उसके माननेवालो की सख्या बहुत कम है, फिर भी वह सामाजिक दृष्टि से समृद्ध तथा संपन्न है। पारसी धर्म अपने जन्म-काल से लेकर अबतक विशुद्ध जातीय धर्म है। कोई गैरपारसी उसका सदस्य नही बन सकता। उनके धर्म-स्थान तथा धार्मिक उपदेश दूसरो के लिए वर्जित हैं। वैदिक या ब्राह्मण-परम्परा की अपने जन्म-काल में जो सकुचित मनोवृत्ति थी, वह पारसियों मे अब भी पाई जाती है।

मिस्र मे जिन परम्पराओं का विकास हुआ, उनमे आजकल तीन जीवित हैं। प्रत्येक ने अपनी पूर्ववर्ती परम्परा का उन्मूलन या निर्वासन करके उसका स्थान ले लिया। सर्वप्रथम यहूदी परम्परा का उदय हुआ, उसने अनेक देवी-देवताओ मे विश्वास रखनेवाली पगान-परम्परा को नष्ट करके अपना साम्राज्य स्थापित किया। यहूदियों को ईसाइयो ने निर्वासित कर दिया तथा ईसाइयों को मुसलमानो ने। इनमे से पगान-परम्परा प्राय. समाप्त हो चुकी है। यहूदी अपने मूल स्थान से निर्वासित होकर विश्व के विविध प्रदेशो मे बस रहे हैं। ईसाई उन्हें घृणा की दृष्टि से देखते हैं। ईसाई और यहूदी का परस्पर सम्बन्ध साप-नेवले की भाति शाश्वत विरोध को प्रकट करता है। यहूदी परम्परा भी जातीय धर्म है। अन्य कोई व्यक्ति उस परम्परा का अनुयायी नही बन सकता। यहूदी-ईसाई-परम्परा का जन्म मानव-सेवा तथा विश्व-कल्याण के सिद्धान्त पर हुआ। ईसामसीह के जो उपदेश 'गिरि-प्रवचन' (sermono of the mount) के रूप मे मिलते हैं, वे धार्मिक भावना के व्यापक एवं उत्कृष्ट रूप को प्रकट करते हैं। उनमें अपने शत्रु को भी गले लगाने का संदेश दिया गया है। ईसाई सन्तों ने विभिन्न देशों की आदिम जातियो मे जाकर

अनेक प्रकार के कष्ट तथा यातनाए सहकर मानव-सेवा का जो उदाहरण उपस्थित किया है, वह धर्म-संस्था के मस्तक को ऊचा करनेवाला है। परन्तु दूसरी ओर साम्राज्य-लिप्सा तथा अहकार-भावना ने धर्म-सगठन को जातीय सगठन का रूप दे दिया। परिणामस्वरूप एक ओर अन्य धर्मावलम्बियो को ईसाई बनाने के लिए वैध तथा अवैध सभी प्रकार के प्रयत्न किये जाने लगे, दूसरी ओर धर्म के नाम पर युद्ध शुरू होगए। शत्रु को गले लगाने के स्थान पर उसे बलपूर्वक मोक्ष पहुचाने के लिए तलवारो, बन्दूको तथा तोपो से काम लिया जाने लगा। इस प्रकार धार्मिक सगठन धर्म तथा धर्म-प्रवर्तक की हत्या का कारण बन गया।

इस्लाम धर्म का जन्म भी विश्ववन्धुत्व की भावना को लेकर हुआ। मुसलमानो मे अव भी परस्पर ऊच-नीच की भावना नही है। किन्तु प्रारम्भ से ही दूसरे धर्मवालो के साथ वे तलवार से पेश आये। जिसने इस्लाम को स्वीकार नहीं किया, उसको मौत के घाट उतार दिया गया। इस प्रकार यह परम्परा विश्वधर्म होने पर भी जातीय धर्म के समान अमगलमय बन गई।

चीन के विशाल देश मे चार परम्पराए प्रचलित है—बौद्ध, कन्फ्यूशस, ताओ और इस्लाम। बौद्ध परम्परा भारत से यहा आई। अन्य दो परम्पराए चीन मे ही उत्पन्न हुई और वही तक सीमित है। वे भारतीय परम्पराओ की अपेक्षा अधिक व्यावहारिक तथा दैनिक जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली है। कन्फ्यूशस ने कहा है कि "एक ही व्यक्ति मे राजा और सत, दोनो तत्त्वों का समन्वय होने पर ही लोक-कल्याण का सपादन हो सकता है।"

ताओ-परम्परा वैदिक 'ऋत' के समान धर्म का कोई शाश्वत आधार मानती है जिसे ताओ शब्द से प्रकट किया गया है। ताओ तथा कन्फ्यूशस-परम्पराओ ने चीन के लोक-कल्याण की साधना की। सैद्धान्तिक रूप मे, भेद-भावना से मुक्त होने पर भी वे चीन की भौगोलिक सीमा से वाहर नही गई। इसका कारण यह है कि साम्राज्य-लिप्सा या सास्कृतिक

दृष्टि से भी वे प्राय अलग से रहे है। चीन ने अपनी रक्षा के लिए जो प्राचीन दीवार खडी की, उसने उसे राजनीतिक तथा सास्कृतिक सभी प्रकार के वाह्य प्रभावो से मुक्त रखा।

जो धर्म जाति या राष्ट्र की परिधि मे सीमित है उनका लक्ष्य अभ्युदय अथवा भौतिक विकास रहा है। किसी परिधि को केन्द्र बनाकर सगठन करना, उसके द्वारा निजी व्यक्तियो का भौतिक विकास करना ही उनका उद्देश्य रहा है। इसके लिए परिधि से बाहर की जनता का उत्पीडन या शोषण कोई पाप नही माना गया। प्रत्युत उसके द्वारा यदि परिधि के अन्तर्गत समाज का अभ्युदय होता है तो उसे धर्म ही माना गया है। इसके विपरीत विश्व-कल्याण को लक्ष्य मानकर चलनेवाली परम्पराए भौतिक विकास को उतना महत्त्व नही देती। वे परस्पर विद्वेष, दुर्भावना, असहिष्णुता, ईर्ष्या, असतोप आदि आन्तरिक दुर्बलताओ को दूर करके सर्वहित-साधन की ओर प्रवृत्त होती हैं। उनका लक्ष्य नि श्रेयस् अर्थात् मोक्ष है। ऐसी परम्पराओ को लोकोत्तर धर्म कहा जा सकता है। लौकिक धर्मो मे लक्ष्य भौतिक एव स्थूल होने के कारण सगठन अपेक्षाकृत दृढ होता है। उनमे व्यक्ति को अपनी अस्मिता एव अहकार-वृत्ति का पोषण करने के लिए पर्याप्त अवसर मिलता है, अत उन्माद की मात्रा भी अधिक रहती है। लोकोत्तर परम्पराओ मे व्यक्ति को अपने त्याग एव तपस्या के वल पर ही ऊचा उठना होता है। वहा सगठन का लक्ष्य केवल मार्गदर्शन एव अनुकूल वातावरण उपस्थित करना होता है। वहा धर्म-प्रवर्तक अथवा धर्म-प्रचारक के रूप मे व्यक्तियो की प्रधानता रहती है। किन्तु प्राय देखा गया है कि इस प्रकार के व्यक्ति को केन्द्र बना-कर धार्मिक सप्रदाय खडे हुए और अहकार तथा उन्माद को प्रश्रय मिला। वास्तव मे देखा जाय तो वे सप्रदाय लोकोत्तर के स्थान पर उत्तरोत्तर लौकिक वनते चले जाते है। व्यक्ति वहा भी उच्च आदर्श या नि श्रेयस् को छोडकर अभ्युदय के मार्ग पर चल पडता है, श्रेय को छोडकर प्रेय को अपना लेता है। ईसाई, वौद्ध, इस्लाम तथा जैन इन सभी परम्पराओ मे यह पतन दृष्टिगोचर हो रहा है।

: ३ :

भारत की प्राचीन परम्पराएं

श्रमण और ब्राह्मण

यह बताया जा चुका है कि भारतीय सस्कृति परस्पर-विरुद्ध दो परम्पराओ की देन है। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण मे उन्हे शाश्वत विरोध के उदाहरणो मे रखा है। वे हैं श्रमण और ब्राह्मण। दोनो मे टक्करे हुईं, समझौता भी हुआ, एक ने दूसरी को प्रभावित किया, इस प्रकार भारतीय सस्कृति आगे बढती गई और सर्वांगीण बन गई। प्राय यह माना जाता है कि श्रमण-परम्परा का जन्म ब्राह्मण-परम्परा की प्रतिक्रिया के रूप मे हुआ, किन्तु ऐतिहासिक अन्वेषणो ने इस धारणा को मिथ्या सिद्ध कर दिया है। हडप्पा तथा मोहन-जोदडो आदि मे जो सास्कृतिक अवशेष मिले है, उनसे पता चलता है कि इस वैदिक परम्परा से पूर्व भी भारत मे कई सुविकसित सास्कृतिक परम्पराए विद्यमान थी। उन अवशेषों मे महादेव की मूर्ति भी मिली है, जिनका चरित्र श्रमण-परम्परा के उज्ज्वल आदर्श को उपस्थित करता है। इतना ही नही, महादेव के द्वारा दक्ष प्रजापति के यज्ञ का ध्वस किये जाने की जो पौराणिक कथा मिलती है, वह वैदिक और श्रमण-परम्पराओ के परस्पर-विरोध को स्पष्टतया प्रकट करती है। महादेव सर्वस्वत्यागी तपस्वी थे। स्वय अभिशाप लेकर दूसरो को वरदान देना जानते थे। उनका जो रूपक हमारे सामने आता है, वह उच्च कोटि के आदर्श को उपस्थित करता है। समुद्र-मथन के समय जो रत्न निकले, वे दूसरो को बाट दिये गए, अन्त मे जब विष निकला तो उसे लेने को कोई तैयार न हुआ, किन्तु महादेव उसे

पीकर अमर होगए । उनके मस्तक पर शीतल गगा वहती है, वह कभी उत्तप्त नही होता । ललाट पर चन्द्रमा की शीतल ज्योति है, भृकुटि मे विकारो को नाश करनेवाली तपस्या की ज्वाला है। वे कामदेव को भस्म करके विवाह करते है, जिससे शक्ति का अवतार कार्तिकेय उत्पन्न होता है और देवताओ का सेनानी वनकर उनकी रक्षा करता है। उनके व्यापक प्रभाव को देखकर वैदिक परम्परा ने भी उन्हे स्वीकार कर लिया, और तूफान के वैदिक देवता रुद्र के साथ सम्बन्ध जोड दिया ।

वर्त्तमान हिन्दू धर्म के नेता कृष्ण है । वे भी वहुत दिनो तक वेद-वाह्य रहे और धीरे-धीरे इस परम्परा मे आगए। कृष्ण मुख्यत भागवत-परम्परा के देव हैं। उनकी पूजा का प्रारम्भ वीरपूजा के रूप मे हुआ। भगवद्गीता मे वेदवादियो की निन्दा की गई है। हिन्दू धर्म के राम, दुर्गा, लक्ष्मी आदि देवी-देवता भी वैदिक साहित्य मे नही मिलते।

उपनिषदो मे यतियो एव मुनियो के लिए कहा गया है कि इन्द्र ने उन्हे कुत्तो को फेक दिया । यह वात उसी विरोध को प्रकट करती हैं।

इस समय श्रमण-परम्परा की दो शाखाए जीवित हैं। उनके साहित्य मे अन्य शाखाओ का भी उल्लेख मिलता है। उनमे से वहुत-सी आर्यो के आने से पहले विद्यमान थी, फिर भी यह मानना पडेगा कि वौद्ध एव जैन परम्पराओ का वर्त्तमान रूप वैदिक परम्परा की प्रतिक्रिया को लिये हुए है। इन दोनो के परस्पर-भेद को जानने के लिए निम्न-लिखित वातें उल्लेखनीय हैं •

१. वेद का प्रामाण्य

वैदिक परम्परा की यह मान्यता रही है कि मनुष्य को अपने कर्त्तव्य या अकर्त्तव्य के विषय में स्वय सोचने का अधिकार नही है। उसका कर्त्तव्य सदा के लिए निश्चित है और उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नही किया जा सकता। व्यक्ति को कौन-सा कार्य करना चाहिए और कौन-सा नही करना चाहिए, इसके लिए वेद की आज्ञा सर्वोपरि है। वेद नित्य है, उनकी आज्ञाए नित्य है। अत. धर्म के विषय मे समय, परिस्थितियो या धर्म

व्यक्ति के आधार पर परिवर्तन का प्रश्न ही नही उठता। इसके विपरीत श्रमण-परम्परा नैतिकता को महत्त्व देती है। उसका कथन है कि कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का निर्णय आत्मा की निर्मलता या सत्य-अहिंसा आदि नैतिक सिद्धान्तो के आधार पर होना चाहिए। उसने शास्त्र के प्रमाण को या तो माना ही नही, या माना भी तो वह आध्यात्मिक गुणो के आधार पर। उसने कहा कि उसी व्यक्ति की बात प्रमाण हो सकती है जो सर्वज्ञ है या प्रतिपाद्य विषय को पूरी तरह जानता है तथा राग-द्वेष से परे है। किसी कथन के भ्रान्त या असत्य होने के दो कारण हो सकते हैं। यदि कहनेवाला इस विषय का अधिकारी विद्वान् नही है तो उसका कथन भ्रान्त हो सकता है। इसी प्रकार यदि कहनेवाला स्वार्थ, राग, द्वेप आदि मानसिक दुर्बलताओ से अभिभूत है तो वह सत्य का ज्ञान होने पर भी असत्य बोल सकता है। जो प्रतिपाद्य वस्तु को पूर्णतया जानता है और राग-द्वेप आदि से परे है, वह असत्य नही बोल सकता, उसीका वचन श्रद्धेय हो सकता है। ऐसे व्यक्ति की कसौटी प्रत्येक मनुष्य स्वय करता है। श्रमण-परम्परा आध्यात्मिक उत्थान के लिए ऐसे व्यक्तियो को आदर्श मानकर चलती है। वहा मनुष्य अपने लिए नैतिक नियमो का स्वय निर्माण करता है, भूल होने पर स्वय सशोधन करता है, उनके भले और बुरे परिणामो के लिए स्वय उत्तरदायी होता है। इस प्रकार प्रयोगात्मक अनुभव करता हुआ स्वय आगे बढता है। वैदिक परम्परा मे ये नियम ऊपर से लादे जाते है, मनुष्य को किसी प्रकार की स्वतन्त्रता नही है। उसका एकमात्र कर्त्तव्य उन आज्ञाओ का पालन है।

२. देववाद—वैदिक परम्परा मे जिस प्रकार कर्त्तव्य पर अतीन्द्रिय शक्ति का नियन्त्रण है, उसी प्रकार परिणाम भी अतीन्द्रिय शक्ति के हाथ मे है। प्रारम्भ मे विभिन्न प्रकार के फल देनेवाले अनेक देवता माने गए और धीरे-धीरे समस्त मनुष्यो के भाग्य पर नियन्त्रण करनेवाला एक देवता माना गया। उपर्युक्त वेदवाद तथा देववाद को मिलाकर देखने पर हमारे सामने एक आध्यात्मिक साम्राज्यवाद का रूप उपस्थित हो

जाता है। जिस प्रकार साम्राज्यशाही में नियमो का निर्माण, उनका पालन कराना तथा तदनुसार फल देना सम्राट् के हाथ मे होता है, प्रजा की स्वाधीनता समाप्त हो जाती है, उसी प्रकार वेद और ईश्वर दोनो तत्त्व मिलकर मनुष्य की आध्यात्मिक स्वाधीनता को समाप्त कर देते हैं। उसके विपरीत श्रमण-परम्परा मे व्यक्ति-जो कर्म करता है, उसके करने और फल भोगने के लिए वह स्वय उत्तरदायी है।

३ यज्ञ—वैदिक परम्परा की तीसरी देन यज्ञ रहे है, यद्यपि वर्त्तमान हिन्दू धर्म मे उनका प्रावल्य नही रहा किन्तु ई० पू० छठी शताब्दी तक उनका बाहुल्य रहा है। कोई राजा या सम्पन्न व्यक्ति यज्ञ करके इस लोक और परलोक के समस्त फल प्राप्त कर सकता था। इसके लिए उसे न कोई तपस्या करनी पडती थी न किसी प्रकार की आत्म-शुद्धि। दक्षिणा देने का सामर्थ्य ही इसके लिए पर्याप्त था। यह सामर्थ्य सर्व-साधारण मे सम्भव नही था। अत धर्म पर विशिष्ट एव सम्पन्न वर्ग का एकाधिपत्य हो गया था। श्रमण-परम्परा ने इसके विरुद्ध आवाज उठाई, तप और आत्म-शुद्धि पर बल दिया और क्रमश. विजय प्राप्त की। वैदिक युग में पुत्र-प्राप्ति, धन-प्राप्ति, राज्य-प्राप्ति, स्वर्ग-प्राप्ति आदि सभी कामनाओ की पूर्ति के लिए यज्ञ किये जाते थे। किन्तु पौराणिक युग मे उनका स्थान तप ने ले लिया। व्यक्ति विविध कामनाओ से प्रेरित होकर तप करने लगे, और उससे प्रसन्न होकर देवता वरदान देने लगे। वैदिक युग मे प्राकृतिक तत्त्वो के अधिष्ठापक इन्द्र, वरुण आदि देवता माने जाते थे। पौराणिक युग में ब्रह्मा, विष्णु, महेश, दुर्गा आदि देवताओ का आधिपत्य हो गया। किन्तु श्रमण-परम्परा इससे भी आगे बढी। उसने साधन-शुद्धि तथा साध्य-शुद्धि दोनो पर बल दिया। एक ओर जीवन का लक्ष्य कामनाओ का परित्याग तथा आत्म-शुद्धि बना ; दूसरी ओर अहिंसा, सयम, तप आदि शुद्ध उपायो को अपनाया गया। जैन परम्परा की दृष्टि से देखा जाय तो २३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ ने अज्ञान, तप, निरर्थक काया-क्लेश तथा उनके द्वारा प्राप्त होनेवाली सांसारिक कामनाओ की पूर्ति का

विरोध किया। २४वे तीर्थंकर महावीर ने मुख्यतया हिंसा का विरोध किया। दोनो की सम्मिलित परम्परा ने अहिंसा, सयम तथा तप की साधना के रूप में तथा आत्म-शुद्धि की साध्य के रूप मे प्राण-प्रतिष्ठा की। साथ ही उन्होंने यह भी बताया कि इस प्रकार के धर्म का आराधन करनेवाला देवाधिदेव, अर्थात् देवताओ का पूज्य भी बन जाता है। जिन देवताओ को अबतक सर्वोत्कृष्ट स्थान प्राप्त था, चरित्रवान् को उनसे भी ऊचा पद दे दिया गया। समस्त भौतिक शक्तिया द्वितीय स्थान पर आ गई।

४ वर्ण-वैषम्य—उपर्युक्त बातो से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वैदिक परम्परा व्यक्ति तथा व्यक्ति में परस्पर विषमता मानती थी। इसीने वर्ण-वैषम्य का प्रतिपादन किया। शूद्रो को वेदाध्ययन तथा धार्मिक अनुष्ठानो मे वचित रखा गया, इसी प्रकार स्त्रियो को भी समान अधिकार नही दिये गए। यह वैषम्य आजतक भारत का अभिशाप बना हुआ है। श्रमण-परम्परा ने स्त्री और पुरुष, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र सभी-को समान अधिकार दिये। सभीको आत्म-शुद्धि के द्वारा देवाधिदेव तथा त्रिलोक-पूज्य बनने का अवसर प्रदान किया।

जैन साहित्य मे भगवान् महावीर के साथ 'समण' विशेषण मिलता है। यह प्राकृत भाषा का शब्द है जिसके सस्कृत में तीन रूपान्तर किये जा सकते हैं। वे तीनो मिलकर श्रमण-सस्कृति के हृदय को प्रकट करते हैं—

(क) श्रम—व्यक्ति अपने ही श्रम से सफलता प्राप्त कर सकता है। यज्ञो में बलिदान पशुओ का होता है, किन्तु फल यजमान को मिलता है, इसके विपरीत श्रमण-परम्परा का नियम है कि व्यक्ति को स्वर्ग-सुख या मोक्ष प्राप्त करने के लिए स्वय परिश्रम करना होगा।

(ख) सम—मनुष्य ही नही, ससार के समस्त प्राणी योग्यता की दृष्टि से समान हैं। सभीके लिए उत्थान का मार्ग खुला हुआ है। वैषम्य इतना ही है कि कोई मजिल पार कर चुका है, कोई मध्य मे है; कोई चलने की तैयारी मे है और किसीका उस तरफ ध्यान ही नही

गया। जो मजिल पार कर चुके है वे परम आत्मा है; जो चल रहे हैं वे मुनि या श्रावक के रूप मे साधक है, जो तैयारी मे खडे है वे सम्यग्दृष्टि हैं और जो उस पथ से विमुख हैं वे मिथ्यादृष्टि है।

(ग) शम—इसका अर्थ है व्यक्ति का उत्थान कामनाओ की शान्ति, इच्छाओ का निरोध तथा आत्म-सयम के द्वारा ही हो सकता है। कामनाओ की वृद्धि पतन का मार्ग है, उत्थान का नही। वह हेय है। इसके विपरीत वैदिक परम्परा मे कामना-पूर्ति को लक्ष्य मानकर यज्ञ आदि को उसका साधन बताया गया है।

श्रमण और ब्राह्मण-परम्परा में जो परस्पर-भेद बताया गया है वह वैदिक परम्परा के प्रारम्भ की अपेक्षा से है। उसका उपर्युक्त रूप मुख्यतया ब्राह्मण-काल मे रहा है। किन्तु शनै-शनै उसने भी आध्यात्मिक रूप ले लिया और वह बाह्य क्रियाकाण्ड से निकलकर आत्मलक्षी बन गई। उपनिषदो में उसका वही उदात्त रूप मिलता है। वास्तव मे देखा जाय तो मनुष्य के सामने जबतक भौतिक अस्तित्व एव सरक्षण की समस्या रहती है, तब उसका धर्म एव अन्य सभी प्रवृत्तिया स्वार्थमूलक रहती है। जब वह युद्ध, सगठन एव सरक्षण की चिन्ताओ से मुक्त हो जाता है और गभीर चिन्तन और आत्म-निरीक्षण की ओर झुकता है तो आत्मलक्षी बन जाता है और शुष्क क्रियाकाण्ड के विरुद्ध क्रान्ति करने लगता है। कठोपनिषद् मे इसी प्रकार के एक क्रान्तिकारी का वर्णन है।

वाजश्रवस् नाम के ऋषि ने स्वर्ग प्राप्त करने के लिए 'विश्वजित्' यज्ञ करने का निश्चय किया। विधान के अनुसार ऐसा यज्ञ करनेवाले को अपनी समस्त सम्पत्ति दक्षिणा मे दे देनी चाहिए। ऋषि के नचिकेता नाम का पुत्र था। पुत्र-मोह के कारण पिता को विचार आया, यदि सारी सम्पत्ति दान कर दी गई तो पुत्र क्या खायेगा! उसे एक उपाय सूझा, यज्ञ करने से पहले ही सम्पत्ति का बटवारा कर दिया। उन दिनो गौए ही सम्पत्ति हुआ करती थी। दूध देनेवाली सारी गौए पुत्र को दे दी गई और निकम्मी गौओ को ऋषि ने अपनी सपत्ति के रूप मे रख लिया।

यज्ञ पूरा हो गया, दक्षिणा में ब्राह्मणों को गौएं मिलने लगीं, किन्तु वे सब निकम्मी थी। कवि उनका वर्णन करते हुए कहता है—'जितना पानी पीना था पी चुकी थी, जितना घास चरना था चर चुकी थी, वे जितना दूध देना था दे चुकी थी, उनकी प्रजनन-शक्ति भी समाप्त हो चुकी थी।'

नचिकेता का युवक हृदय उस दृश्य को न देख सका। मन मे आया, इस दान से पिता को क्या फल मिलेगा! नम्र विरोध की भावना से वह पिता के पास गया और कहने लगा—"पिताजी, 'मै भी आपकी सम्पत्ति हू, आप मेरा दान किसको करेंगे?' पिता को उत्तर न सूझा। प्रश्न को जब दूसरी और तीसरी बार दोहराया गया तो उन्हे क्रोध आ गया। उत्तर दिया, 'मृत्यु को!' क्रान्तिकारी युवक पिता के मना करने पर भी मृत्यु के पास चल दिया। उसने तीन दिन अनशन किया और यमराज अर्थात् मृत्यु से ही अमृतत्व का पाठ पढा। यमराज ने नचिकेता को धन-सम्पत्ति, सुन्दरिया, साम्राज्य आदि के सभी प्रलोभन दिये, किन्तु वह अपने लक्ष्य से विचलित न हुआ। अन्त में यमराज ने उसे आत्म-विद्या का उपदेश दिया।

उपनिषदो मे यज्ञ-रूपी नौका को अदृढ बताया गया है—अर्थात् वह जीवन के चरम लक्ष्य तक नही पहुचा सकती। इसी प्रकार इन्द्र आदि वैदिक देवताओं के अस्तित्व में भी सन्देह प्रकट किया गया है।

केनोपनिषद् में पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा स्वर्ग के देवताओ की शक्ति को पराश्रित बताने के लिए एक सुन्दर रूपक है, जिसमें आत्म-शक्ति के बिना अग्नि सूखे तृण को न जला सकी और न हवा उसे उड़ा सकी।

उपनिषदों मे ब्राह्मण-परम्परा के विरुद्ध बीज मिलने पर भी उसका खुला विरोध नही किया गया। अधिकारी-भेद से उसे प्रश्रय भी दिया गया। दृष्टि मे भेद होने पर भी नाम-पट्ट वही रहा। किन्तु जैन तथा बौद्ध परम्परा ने खुला विरोध किया। इसी कारण दृष्टिसाम्य होने पर भी उपनिषद् वैदिक परम्परा का ही अग बने रहे किन्तु जैन एव बौद्ध नास्तिक कहे गए।

उपनिपदो मे अनेक ऋपियो का वर्णन मिलता है। उन्होने विविव साघना-पद्धतियो का उपदेश दिया। उनमें मुख्यतया दो दृष्टिया है—१ आत्म-साक्षात्कार, और २ मन की एकाग्रता। उनकी धारणा थी कि प्रतीयमान जगत् के मूल मे एक शाश्वत तत्त्व है और उसको प्राप्त कर लेने पर विश्व के समस्त दु.खो का अन्त हो जाता है। उस तत्त्व को प्राप्न करने के लिए मन को अन्तर्मुखी वनाने की आवश्यकता है। और यह तभी हो सकता हे जव वाह्य पदार्थो की कामनाए समाप्त हो जाय। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए उन्होने एक ओर वाह्य पदार्थो को मिथ्या, नश्वर अथवा दू खपूर्ण वताया, और दूसरी ओर आन्तरिक तत्त्व को वास्तविक, शाश्वत एव सुखमय। मन को एकाग्र करने के लिए विभिन्न पद्धतिया वताई गई और श्वासोच्छ्वास, हृदय की धडकन, भ्रूमध्य-प्रदेश, मूर्वा आदि भागों पर मन को केन्द्रित करने का अभ्यास वताया गया।

इस प्रकार प्रतीयमान विविधता होने पर भी उपनिपदो का मूल स्रोत एक ही रहा है। उस समय भारतीय धर्म के दो रूप थे। एक ओर राज्य, पुत्र, घन आदि लौकिक कामनाओ की पूर्ति के लिए यज्ञ किये जाते थे। उस धर्म का मुख्य लक्ष्य समाज का अभ्युदय था, दूसरी ओर उपनिषदों का आत्मलक्षी धर्म था। यज्ञो में ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य का ही अधि-कार था। वास्तव मे देखा जाय तो वह धर्म ब्राह्मणो और क्षत्रियो के हाथो मे था। क्षत्रियो के हाथ मे शासन और सैनिक शक्ति थी। ब्राह्मण उनके पुरोहित थे। वैश्य सावारणतया कृषि, गोपालन आदि मे लगे रहते थे और जीवन की भौतिक आवश्यकताओ को पूर्ण करते थे। धर्म के क्षेत्र में उनका हस्तक्षेप नही था। इनके अतिरिक्त शूद्र पूर्णतया वहिष्कृत थे और उनसे सेवा का कार्य लिया जाता था।

इसके विपरीत उपनिषदो का धर्म अन्तर्लक्षी था। वहा किसी प्रकार का वर्ण-विद्वेष नही था। उपनिषदो में वहुत-से ऋषि शूद्रवर्ण के हैं। वहा लौकिक कामनाओ को हेय माना गया है और यज्ञो मे जिन

देवताओ की पूजा होती थी, उनके अस्तित्व मे सन्देह प्रकट किया गया है।

उपर्युक्त दोनो प्रकार की धार्मिक व्यवस्थाए एक साथ चलती रही और आश्रम-धर्म के रूप मे उनका समन्वय कर लिया गया। दीर्घदर्शी ऋपियो ने यह अनुभव किया कि लौकिक अभ्युदय के बिना समाज का अस्तित्व नही रह सकता, एव पारमार्थिक दृष्टि के विना जीवन मे शान्ति तथा सुख की प्राप्ति नही हो सकती। अत उन्होने गृहस्थाश्रम को लौकिक धर्म की आरावना के लिए तथा उत्तरवर्ती वृद्धावस्था को आत्म-साधना के लिए नियत कर दिया।

सैद्धान्तिक दृष्टि से इस प्रकार नियत होने पर भी वह मर्यादा सर्वसाधारण के व्यवहार की वस्तु नही बनी। इने-गिने व्यक्ति ही घर-वार छोडकर वन मे जाते थे और उन लोगो का सर्वसाधारण के साथ अधिक सम्पर्क नही रहता था। परिणामस्वरूप आत्म-धर्म सर्वसाधारण के जीवन को प्रभावित नही कर सका। वहा लौकिक कामनाओ के लिए यज्ञ-यागादि का अनुष्ठान, विवधि देवताओ की पूजा, वर्ण-वैषम्य तथा ब्राह्मणो का आधिपत्य उसी प्रकार चलते रहे।

: ४ :

भारतीय परम्पराओं का ऐतिहासिक सिंहावलोकन

भारतीय परम्पराओ का ऐतिहासिक सिहावलोकन समझने के लिए उनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि जान लेना आवश्यक है। इस अध्याय मे उसी-का दिग्दर्शन कराया जायगा।

(१) वैदिक परम्परा—भारतीय धर्म की सर्वाधिक समृद्ध एव व्यापक वैदिक परम्परा है। इसके जन्मकाल के विषय मे अनेक मान्यताएं है। साधारणतया इसका प्रारम्भ ई० पू० ४००० माना जाता है, किन्तु यह समय वेदो की रचना का है, अर्थात् बहुसख्यक विद्वानो के मतानुसार वेदो का जो रूप इस समय मिलता है, वह तबतक परिनिष्ठित हो चुका था। किन्तु वेद सग्रह-ग्रन्थ है; उनमे जिन मन्त्रो का सग्रह है वे परम्परागत रूप मे चले आ रहे थे। उनकी सर्वप्रथम रचना कब हुई, इस विषय मे कुछ नही कहा जा सकता। आर्यों के भारत मे आने से पूर्व बहुत-से मन्त्रो की रचना हो चुकी थी।

वैदिक परम्परा का मूल ईरान के पारसी धर्म से मिलता है। पितृ-पूजा, अग्नि-पूजा और सूर्य-पूजा, ऋत के नाम से कर्म-सिद्धान्त का स्वीकार आदि बहुत-सी बाते दोनो मे एक-सी है।

आर्यो के भारत मे आने के पश्चात् वैदिक परम्परा मे अनेक तत्त्वो का सम्मिश्रण होता चला गया और वह अबतक जारी है। भारतीय वैदिक परम्परा का सर्वप्रथम रूप हमारे सामने प्रकृति-पूजा के रूप में आता

है। उस समय आर्यों के सामने जीवन के लिए सघर्ष की मुख्य समस्या थी और यह सघर्ष था मुख्यतया प्रकृति के साथ। उन्होंने प्राकृतिक तत्त्वो को अनुकूल तथा प्रतिकूल दोनो रूपो मे पाया और उनपर नियन्त्रण करने वाली दिव्य शक्तियो की कल्पना की। सूर्य, मित्र, अर्यमन्, अग्नि, रुद्र, वरुण, उषा, विद्युत्, इन्द्र आदि देवताओ की पूजा वैदिक धर्म का मुख्य अङ्ग है। इनमे से कुछ की पूजा अत्यन्त प्राचीन है और कुछ की आर्यो के भारत आने के पश्चात् प्रारम्भ हुई। धीरे-धीरे समस्त देवताओ के अधिष्ठाता एक ईश्वर की कल्पना हुई जो ऋग्वेद के दशम मण्डल मे मिलती है। वैदिक परम्परा की उपर्युक्त विशेषता ऋग्वेद या मन्त्र-काल से सम्बन्ध रखती है।

वैदिक परम्परा का द्वितीय युग ब्राह्मण-काल अथवा यजुर्वेद से सम्बन्ध रखता है। इसका मुख्य तत्त्व यज्ञ है। इसके दो रूप थे प्रत्येक गृहस्थ द्वारा जीवन-शुद्धि के लिए किये जानेवाले नित्य-नैमित्तिक अनुष्ठान और युद्ध मे विजय, राज्य, सन्तान आदि की प्राप्ति के लिए किये जाने वाले बड़े अनुष्ठान। द्वितीय प्रकार के यज्ञ प्राय राजा या सम्पन्न व्यक्ति किया करते थे और उनमे पशुओ की बलि भी दी जाती थी। ऋग्वेद मे जो देवता प्राकृतिक तत्त्वो के अधिष्ठाता थे वे यहा यज्ञ के अधिष्ठाता बन गए। धीरे-धीरे यज्ञ मे किये जानेवाले कर्म का महत्त्व बढा और यह माना जाने लगा कि विधिपूर्वक कर्म करने पर फल अवश्य मिलता है। वह देवता की कृपा पर निर्भर नही है। इस प्रकार हम देखते है कि देवताओ के सामने गिडगिडानेवाला ऋग्वेद के समय का मानव यहा अपने पैरो पर खडा होगया और अपने पुरुषार्थ को स्वय फलदायी मानने लगा।

वैदिक परम्परा की तीसरी विशेषता वर्ण-वैषम्य है, जिसका प्रारम्भ राजनैतिक कारणो से हुआ। मूल भारतीयो के साथ आर्यो के युद्ध हुए और परस्पर घृणा उत्पन्न हो गई। विजयी आर्यों ने विजित जातियों को शूद्र एवं अन्त्यजो के रूप मे रखा। उन्हे वैदिक अनुष्ठान एव सामाजिक व्यवस्था मे कोई स्थान नही दिया गया। तथाकथित उच्च वर्णवालो की

सेवा और उसके बदले मे उच्छिष्ट भोजन एव वस्त्रो द्वारा भरण-पोषण से आगे उन्हे कोई अधिकार नही था ।

वैदिक परम्परा की चौथी विशेषता वेद का प्रामाण्य है । जो परम्परा नैतिकता के साधारण नियमो का उल्लघन करके वर्ग-विशेष को उसके न्यायोचित अधिकार से वचित रखना चाहती है, उसके लिए यह आवश्यक हो जाता है कि परम्परा को सर्वोपरि माने । उसे ईश्वरीय विधान कहकर विवाद को रोक दे । इसी दृष्टि से वेदो को अनादि या ईश्वरीय वाक्य माना गया और उनमे सन्देह करना पाप बताया गया । देवताओ का आधिपत्य, यज्ञो का अनुष्ठान तथा वेद का प्रामाण्य इन तीनो की प्रतिक्रिया उपनिषदो मे मिलती है, जहा इन्द्र आदि देवताओ के अस्तित्व मे सन्देह प्रकट किया गया है, यज्ञ-रूपी नौका को अदृढ बताया गया है और श्रुति अर्थात् श्रवण के पश्चात् युक्तिपूर्वक मनन तथा निदिध्यासन, अर्थात् एकाग्र चिन्तन, पर बल दिया गया है । उपनिषदो मे कर्म तथा उपासना से आगे बढकर ज्ञान, अर्थात् सत्य के साक्षात्कार, पर बल दिया गया है ।

ईस्वी-पूर्व छठी शताब्दी के पश्चात् वैदिक परम्परा का बौद्ध, जैन तथा अन्य अवैदिक परम्पराओ के साथ सघर्ष हुआ । परिणामस्वरूप अनेक परिवर्तन एव सम्मिश्रण होते चले गए । यवन, शक, हूण आदि विदेशी जातियो के आगमन का भी प्रभाव पडा ।

गुप्त-साम्राज्य अर्थात् ईसा की चतुर्थ शताब्दी तक वैदिक परम्परा दबी-सी जान पड़ती है । उस काल में बौद्ध और जैनो का प्रभाव अधिक रहा । गुप्त-साम्राज्य मे वैदिक परम्परा का पुन. उत्कर्ष माना जाता है, किन्तु उसे वैदिक न कहकर पौराणिक कहना अधिक उचित होगा । उस समय इन्द्र, वरुण आदि वैदिक देवताओ का स्थान ब्रह्मा, विष्णु, महेश, दुर्गा आदि पौराणिक देवता ले चुके थे । इसी प्रकार राम, कृष्ण आदि महापुरुषो की पूजा भी भगवान् के रूप मे होने लगी थी । यज्ञ का स्थान तपस्या ने ले लिया था, अर्थात् सासारिक कामनाओ की पूर्ति के लिए विविध

प्रकार के तप किये जाते थे और भगवान् को प्रसन्न होकर वर देना पडता था।

आठवी शताब्दी मे शङ्कराचार्य ने पुन. उपनिषदो की प्रतिष्ठा की। उन्होने बौद्धो से युक्तिवाद लिया और वैदिक परम्परा से श्रद्धा, तदुपरान्त दोनो के आधार पर अद्वैत वेदान्त का प्रचार किया।

दशम शताव्दी मे रामानुजाचार्य हुए। उन्होने भक्तिवाद को महत्त्व दिया। उनके पश्चात् माध्व, निम्बार्क, वल्लभ, चैतन्य आदि अनेक आचार्य हुए। उन्होने सैद्धान्तिक मतभेद होने पर भी भक्ति पर ही अधिक बल दिया। उनका मुख्य ग्रन्थ भागवत है। भक्ति के प्रेम, दास्य, सख्य, वात्सल्य आदि अनेक रूप बताये गए। सोलहवी शताब्दी मे चैतन्य परम्परा के अनुयायी जीवगोस्वामी, रूपगोस्वामी आदि प्रसिद्ध विद्वानो ने भक्ति का अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन किया है।

प्राय इसी समय तुलसीदास, सूरदास आदि भक्ति-प्रचारक कवि हुए। दूसरी ओर अद्वैत साधना के प्रचारक कवीर, नानक, दादू आदि सन्त हुए।

दशम शताब्दी के पश्चात् काश्मीर मे शैव परम्परा का विकास हुआ। उनके मुख्य ग्रन्थ तन्त्र कहे जाते है। कालान्तर मे इस परम्परा की साधना-पद्धति का दुरुपयोग होने लगा और शिष्ट समाज इसे हेय दृष्टि से देखने लगा। इसका मुख्य बल अभेद की उपासना पर है। अर्थात् साधक को स्व-पर, भक्ष्य-अभक्ष्य, गम्य-अगम्य आदि का भेदभाव छोडकर सर्वत्र एकत्व के दर्शन करने चाहिए। दार्शनिक दृष्टि से उच्च होने पर भी सर्वसाधारण उसे नही पचा सका। इसपर वज्रयान अर्थात् बौद्धो की तान्त्रिक परम्परा का भी प्रभाव रहा है।

उपर्युक्त तीनो परम्पराओ के वर्त्तमान रूपो की चर्चा आगे की जायगी।

(२) **लुप्त परम्पराएं**—उस समय और भी अनेक धार्मिक परम्पराए प्रचलित थी जो अब लुप्त हो चुकी हैं। उनके प्रवर्तक अपने

को तीर्थङ्कर, जिन या शास्ता कहते थे। इन परम्पराओ मे किसीने आत्म-तत्त्व को स्वीकार किया है और किसीने नही। वहुत-सी ऐसी भी थीं जिन्होने पुण्य-पाप, सुकृत-दुष्कृत का अस्तित्व तथा सुख-दुःख को उनका परिणाम नही माना। उनका कथन था कि मृत्यु के पश्चात् कुछ नही रहता—न आत्मा है और न परलोक। मनुष्य का व्यक्तित्व चार या पाच महाभूतो से वना हुआ है और मृत्यु के समय प्रत्येक महाभूत विखर जाता है।

भारत की धार्मिक परम्परा मे ऐसी मान्यताओ को नास्तिक कहा गया है। उनका जन-मानस पर अधिक प्रभाव नही है। फिर भी एक परम्परा उल्लेखनीय है वह है गोशालक का नियतिवाद। इसका कथन है कि ससार मे जो कुछ होना है होकर रहेगा। मनुष्य अपने पुरुषार्थ के द्वारा उसमे परिवर्तन नही कर सकता। अत तपस्याए, धार्मिक अनुष्ठान एव क्रियाकाण्ड व्यर्थ हैं। ये केवल मन को वहलाने के लिए है। मोक्ष के विपय मे भी इस परम्परा की मान्यता है कि जीव चौरासी लाख योनियो में भ्रमण करके अपने-आप मोक्ष प्राप्त कर लेता है। और यह भ्रमण पूरा किये विना किसीको मोक्ष नही मिल सकता। इसके विपरीत भ्रमण पूरा होने पर अपने-आप मिल जाता है। उसके लिए किसी पुरुषार्थ की आवश्यकता नही रहती। इस परम्परा का दूसरा नाम आजीवक सम्प्रदाय है।

वुद्ध और महावीर के समय इस परम्परा के अनुयायियो की सख्या वहुत विशाल थी। कहा जाता है, महावीर की अपेक्षा इसके अनुयायी अधिक थे। अशोक (२५० ई०पू०) ने अपनी धर्म-लिपियो मे विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायो के साथ इसका भी उल्लेख किया है। किन्तु धीरे-धीरे यह परम्परा भिन्न सम्प्रदाय के रूप मे जीवित नही रही। इस समय भारत में गोशालक या आजीवक नाम से कोई सम्प्रदाय नही है, फिर भी उस विचारधारा का जनमानस पर पर्याप्त प्रभाव है। अब भी भारत में पुरुषार्थ छोडकर भगवान् या भाग्य के भरोसे बैठे रहनेवालो की कमी नही है। यह भारत का राष्ट्रीय चरित्र-सा वन गया है।

(२) **जैन परम्परा**—जैन परम्परा का वर्त्तमान रूप भगवान् महावीर से प्रारम्भ होता है। किन्तु इस परम्परा का अस्तित्व उनसे पहले भी था, यह ऐतिहासिक प्रमाणो के आधार पर सिद्ध हो चुका है। जैन परम्परा के अनुसार महावीर चौबीसवें तीर्थङ्कर थे, उनसे पूर्व तेईस अन्य तीर्थङ्कर हो चुके है, किन्तु उन सबके विषय मे ऐतिहासिक दृष्टि से कुछ नही कहा जा सकता। प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव थे। उनका वैदिक तथा जैन दोनो परम्पराओ मे आदरणीय स्थान है। भागवत मे उन्हे चुने हुए भगवद्-भक्तो ने गिनाया गया है और उनके जीवन-प्रसङ्ग पाच अध्यायो मे वर्णित है। जैन परम्परानुसार वे प्रथम धर्म-प्रवर्तक ही नही, प्रथम राजा भी थे। वैदिक परम्परा मे जो स्थान मनु का है, वही जैन परम्परा मे ऋषभदेव का है। कहा जाता है कि उनसे पहले लोग वृक्षो के फल तथा प्रकृति द्वारा स्वय प्रदान की गई वस्तुओ पर निर्वाह करते थे। क्रमश उनकी कमी होगई और ऋषभदेव ने खेती करना, आग जलाना, बर्तन बनाना आदि जीवनोपयोगी विद्याओ का उपदेश दिया। जीवन-सामग्री की कमी के कारण परस्पर सघर्ष भी प्रारम्भ हुए और उनका निराकरण करने के लिए राज्य-सस्था की नीव पडी। यह भी कहा जाता है कि ऋषभदेव ने वर्ण-व्यवस्था भी कायम की थी। स्वय उन्होने अन्तिम अवस्था मे मुनि-व्रत अङ्गीकार किया था और आश्रम-व्यवस्था को भङ्ग नही किया। इन सब बातो से यही प्रतीत होता है कि ऋषभदेव के समय जैन और वैदिक परम्पराए परस्पर-भिन्न नही थी।

ऋषभदेव के सौ पुत्र थे। उनमे भरत और बाहुबलि ज्येष्ठ थे। भरत इस देश के प्रथम चक्रवर्ती हुए। उनका जीवन अनासक्ति-प्रधान था। अन्त मे उन्होने भी मोक्ष प्राप्त किया। प्रतीत होता है, उस समय धर्म के क्षेत्र मे निवृत्ति की अपेक्षा अनासक्ति को अधिक महत्त्व दिया जाता था।

बाहुबलि की जीवन-घटना का जैन कथा-साहित्य मे मूर्धन्य स्थान है। कहा जाता है, ऋषभदेव के सन्यास ले लेने पर भरत और बाहुबलि

मे राज्य-विपयक प्रतिस्पर्धा हो गई। दोनो मे युद्ध हुआ और भरत की हार होती गई। किन्तु वाहुबलि के मन मे आत्मग्लानि उत्पन्न होगई। राज्य-सरीखी तुच्छ वस्तु के लिए वडे भाई पर हाथ उठाना उन्हें अच्छा न लगा। वे भी सवकुछ छोडकर सन्यासी होगए। फिर भी मन मे अहकार की मात्रा कम नही हुई। एक वर्ष तक ध्यान लगाये खडे रहे, फिर भी कैवल्य-प्राप्ति नही हुई। अन्त मे ब्राह्मी और सुन्दरी नाम की उनकी दो वहनो ने जाकर समझाया और अहकार-वृत्ति छोडने का सन्देश दिया। उन्हें अपनी भूल ज्ञात हुई और उसी समय कैवल्य-प्राप्ति हो गई। वहनो का यह सन्देश जैन कथा-साहित्य एव काव्यो की अमूल्य सम्पत्ति है। सोलहवे तीर्थङ्कर शान्तिनाथ थे और उन्होने एक कबूतर की रक्षा के लिए अपना सारा शरीर तराजू पर चढा दिया था। यह कथा महाभारत मे वर्णित राजा शिवि की कथा से मिलती है। वाईसवे तीर्थङ्कर नेमिनाथ थे जो भगवान् कृष्ण के फुफेरे भाई थे। उनका सम्वन्ध महाभारत के कथानक के साथ है, अत उन्हे ऐतिहासिक कहा जा सकता है।

नेमिनाथ के चरित्र को लेकर जैन काव्य एव चित्रकला का पर्याप्त विकास हुआ है। उनके जीवन की दो घटनाए विशेप उल्लेखनीय हैं—मथुरा के राजा समुद्रविजय की राजकुमारी के साथ नेमिनाथ का सम्वन्ध निश्चित हुआ। विवाह के अवसर पर मास द्वारा वरात का स्वागत करने के लिए समुद्रविजय ने अनेक पशु-पक्षी एकत्रित किये और उन्हे पिञ्जरो मे डाल दिया। जव वरात आई तो नेमिनाथ ने उनका करुण क्रन्दन सुना और सारथि से कारण पूछा। सारथि का उत्तर सुनकर नेमिनाथ को वडा दु ख हुआ और अपने को ही उस करुण क्रन्दन का कारण मानकर वे विवाह से विरक्त होगए और उसी समय घर-वार छोडकर मुनि वन गए।

राजकुमारी ने जब यह समाचार सुना तो उसके मन मे वडा दु ख हुआ। माता-पिता तथा कुटुम्वियो ने उसे आश्वासन देते हुए किसी अन्य राजकुमार के साथ विवाह कर देने की वात कही, किन्तु राजकुमारी

को यह अच्छा न लगा । वह नेमिनाथ को पति मान चुकी थी और अन्य किसीको अपने हृदय मे स्थान नही देना चाहती थी। अन्त मे घर-बार छोडकर वह भी आत्म-साधना के पथ पर चल पड़ी। वैदिक परम्परा मे जो स्थान राधा और कृष्ण के प्रेम का है, जैन परम्परा मे वही स्थान राज-कुमारी राजीमती और नेमिनाथ का है। किन्तु दोनो मे अपनी-अपनी दृष्टि है। एक मे भोग-दृष्टि है, दूसरे मे त्याग-वृत्ति।

नेमिनाथ के साथ उनके छोटे भाई रथनेमि ने भी दीक्षा ली थी। एक दिन राजीमती नगर से वापस लौट रही थी। वर्षा के कारण उसके वस्त्र भीग गए। पर्वत की एक गुफा मे जाकर वह कपडे सुखाने लगी। वही पर रथनेमि भी ध्यान मे खड़े थे। उनकी दृष्टि राजीमती के नग्न शरीर पर पड़ी और विचलित हो उठे। उन्होने राजीमती से विवाह का प्रस्ताव रखा, किन्तु राजीमती विचलित नही हुई, प्रत्युत उसने रथनेमि को भी समझा-बुझाकर पुन मुनि-व्रत मे स्थापित कर दिया। एक स्त्री द्वारा पुरुष को ठीक रास्ते पर लाने की यह घटना भारतीय साहित्य मे अनुपम स्थान रखती है।

उपर्युक्त दोनो घटनाओ को जैन साहित्य तथा कला मे विविध काव्यो तथा चित्रो द्वारा उपस्थित किया जाता है।

तेईसवें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ हुए। इनका समय महावीर से ढाई सौ वर्ष पूर्व है। ये काशी के राजकुमार थे। पार्श्वनाथ ने चतुर्याम-धर्म का उपदेश दिया था; अर्थात् उनके समय चौथा ब्रह्मचर्य व्रत तथा पाचवा अपरिग्रह व्रत भिन्न-भिन्न नहीं थे। ब्रह्मचर्य व्रत का अन्तर्भाव अपरिग्रह मे ही कर लिया जाता था। इसका अर्थ है स्त्री को भी परिग्रह माना जाता था, क्योंकि वह भी मूर्च्छा अथवा ममत्व का कारण है। बौधायन धर्मसूत्र मे भी इन्ही चार यामों का उल्लेख है। कहा जाता है कि बुद्ध तथा महावीर के माता-पिता पार्श्वनाथ के अनुयायी थे।

महावीर का जन्म ५९८ ई० पू० हुआ। वे बुद्ध से कुछ वर्ष बड़े थे। इन्होने २८ वर्ष की अवस्था मे गृहपरित्याग किया और १२ वर्ष तक

कठोर तपस्या की। ४० वर्ष की अवस्था मे विहार की सदानीरा नदी के तट पर उन्हें कैवल्य-प्राप्ति हुई। इसके पश्चात् धर्म-प्रचार प्रारम्भ किया। उनके सर्वप्रथम शिष्य, जो ११ गणधरो के नाम से प्रसिद्ध है, कर्मकाण्ड मे निष्णात ब्राह्मण विद्वान् थे। इससे प्रतीत होता है कि महावीर का सर्व-प्रथम सङ्घर्ष यज्ञ-यागादि तथा उनमे होनेवाली हिंसा के विरुद्ध हुआ।

(१) आचाराङ्ग सूत्र के प्रारम्भ मे महावीर को चार विशेपण दिये गए है और यह बताया गया है कि वे आत्मवादी, क्रियावादी, कर्म-वादी तथा लोकवादी थे। प्रस्तुत चारो विशेषण एक ओर महावीर के सिद्धान्त को प्रकट करते हैं और दूसरी ओर तत्कालीन धार्मिक परम्पराओ को।

उस समय अजित् केशकम्वली नाम के एक धर्म-प्रवर्तक थे जो आत्मा का अस्तित्व नही मानते थे। उनकी दृष्टि मे समस्त चेतन और अचेतन जगत् पाच भूतो से उत्पन्न होता है और उन्ही मे लीन हो जाता है। आत्मा नाम का कोई शाश्वत तत्त्व नही है। इन्हें अनात्मवादी कहा गया है।

सजय वेलट्ठिपुत्त नाम के एक अन्य धर्म-प्रवर्तक यह मानते थे कि पाप-पुण्य नाम की कोई वस्तु नही है। धर्म के नाम से की जानेवाली समस्त क्रियाए व्यर्थ है। इन्हें अक्रियावादी कहा गया है।

तीसरे मखलीगोसाल नाम के धर्मप्रवर्तक थे। उनकी मान्यता थी कि ससार मे सब बातें नियत है। जो कुछ होना है होकर रहेगा। व्यक्ति कितना ही पुरुषार्थ करे, वह अपने भविष्य को नही वदल सकता। प्रत्येक जीव को चौरासी लाख योनियो मे भटकना पडता है। यह भ्रमण पूरा होने पर उसे अपने-आप मोक्ष प्राप्त हो जाता है। इसके पहले कितना ही प्रयत्न किया जाय, मोक्ष नही मिल सकता। महावीर और गोशालक मे परस्पर पर्याप्त सम्पर्क रहा है। अपने साधना-काल मे वे बहुत दिनो तक एक साथ रहे। उसके पश्चात् भी दोनो मे सघर्ष चलता रहा। भगवती-सूत्र के चौदहवें शतक मे इसका वर्णन मिलता है।

(२) गोशालक को नियतिवादी माना जाता है । चौथी परम्परा बुद्ध की थी। वे उच्छेदवादी थे। उनकी दृष्टि में ससार की समस्त वस्तुए क्षण-भगुर है। कोई वस्तु स्थायी नही है। आगे चलकर उन्होने समस्त जगत् का अपलाप ही कर दिया—अर्थात् सबको शून्य वताया, जिसका विकास माध्यमिक परम्परा के रूप मे हुआ है। उपनिषदो के अद्वैतवाद की भी बाह्य जगत् के विषय मे यही मान्यता है, वहा आत्मा तो सत्य है, किन्तु वाह्य जगत् मिथ्या है।

उपर्युक्त परम्पराओ से मतभेद प्रदर्शित करने के लिए महावीर को क्रमश आत्मवादी, क्रियावादी, कर्मवादी तथा लोकवादी कहा गया है। महावीर की दृष्टि मे, आन्तर और वाह्य दोनो जगत् सत्य हैं। आत्मा भी सत्य है और घट-पट आदि बाह्य वस्तुए भी सत्य है। इसी प्रकार पाप और पुण्य भी वास्तविक है। उन्हीके परिणामस्वरूप जीव सुख-दु ख प्राप्त करता रहता है और जन्म-मरण के चक्र मे फसा रहता है। इस चक्र से छुटकारा प्राप्त करने के लिए पुरुषार्थ या पराक्रम आवश्यक है। इसके बिना अपने-आप छुटकारा नही मिल सकता। पुरुषार्थ की तरतमता के अनुसार किसीका छुटकारा शीघ्र होता है और किसी का विलम्ब से। यह पुरुषार्थ आन्तर और बाह्य दोनो प्रकार की शुद्धियो पर अवलम्बित है।

वास्तव मे देखा जाय तो उपर्युक्त चार बातें आचारशास्त्र के आवश्यक तत्त्व है। जो व्यक्ति पुण्य-पाप मे विश्वास करता है, बुरे कार्यों को हेय तथा अच्छे कार्यो को आदेय मानता है, उसे ये चार बातें स्वीकार करनी ही होगी। आत्मा का अस्तित्व स्वीकार किये बिना पुण्य और पाप का अस्तित्व ही नही रहता। नीति शास्त्र के अनुसार हमे पाप या पुण्य तव ही लगता है जब किसी कार्य को हम स्वय इच्छापूर्वक करें—उसका करना या न करना हमारे हाथ में हो। यदि सब-कुछ नियत है अथवा विवश होकर करना पडता है, तो उसका उत्तरदायित्व हम पर नही है। ऐसी दशा मे हम पुण्य-पाप के भागी नही हो सकते। इसी प्रकार यदि

वाह्य जगत् ही नही है तो पुण्य-पाप का कोई अर्थ नही है। हम दूसरे प्राणियों के साथ जो व्यवहार करते हैं उसीपर ये दोनो अवलम्बित हैं। जब अन्य प्राणी और परस्पर व्यवहार केवल कल्पना है तो पुण्य-पाप कैसा ! मनुष्य किसी फल को लक्ष्य मे रखकर भले और बुरे कार्य करता है। विना फल के कोई प्रेरक तत्त्व नही रहता। वह फल आत्म-शुद्धि है या स्वर्ग आदि का भोग, यह प्रश्न दूसरा है, किन्तु शुभ मे प्रवृत्ति और अशुभ से निवृत्ति के लिए शुभाशुभ का मानना आवश्यक है। इसीको कर्मवाद के नाम से कहा गया है। चौथा तत्त्व क्रियावाद है। साख्य, अद्वैत वेदान्त आदि जो दर्शन आत्मा का अस्तित्व मानने पर भी उसे निष्क्रिय मानते हैं, वे भी आचारशास्त्र की समस्या को सुलझाने के लिए जीव अथवा व्यावहारिक आत्मा की कल्पना करते है।

उपर्युक्त मतो के अतिरिक्त महावीर के समय मे साधारण जनता मे अनेक अन्धश्रद्धाए प्रचलित थी। शाकुनिक, अर्थात् पक्षियो के शब्द सुनकर भावी शुभाशुभ वतानेवाले, सामुद्रिक अर्थात् हाथ देखनेवाले ज्योतिषी, भूत-प्रेत आदि से वात करनेवाले, विविध प्रकार के यन्त्र, मत्र, तन्त्र, टोने आदि करनेवाले सर्वसाधारण मे विश्वास जमाये हुए थे। उनका मुख्य ग्रन्थ अथर्ववेद है । वैदिक परम्परा ने भी उन्हे घृणा की दृष्टि से देखा तथा अथर्ववेद को पठन-पाठन से हटा दिया। ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद इन तोनो को ही त्रयी के नाम से महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया। बौद्ध और जैन परम्परा ने विरोध किया और अपने ही पुरुषार्थ पर विश्वास करने का सदेश दिया। जैन शास्त्रो मे साधु के लिए शकुन आदि वताना वर्जित है।

महावीर के जामाता 'जामाली' भी जैन शास्त्रो मे पृथक् धर्म-प्रवर्तक के रूप मे मिलते है।

वर्तमान भारत के जनमानस की दृष्टि से देखा जाय तो इन उपर्युक्त परम्पराओ का प्रभाव अब भी दृष्टिगोचर होता है।

(४) **बौद्ध परम्परा**—श्रमण-परम्परा की दूसरी प्रधान शाखा बौद्ध

धर्म है। बुद्ध से पहले इसके अस्तित्व के लिए ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलते। बुद्ध का भी मुख्य बल नैतिकता एवं सदाचार पर रहा है। उन्होंने दार्शनिक प्रश्नो को महत्त्वहीन बताया है। महावीर ने साधना के रूप में कठोर तपस्या पर बल दिया है किन्तु बुद्ध ने मध्यम मार्ग का प्रतिपादन किया है। उनकी दृष्टि मे विलासिता तथा कठोर तपस्या दोनो हेय है। अशोक के समय बौद्ध धर्म सारे भारत मे ही नही, लङ्का आदि पडोसी द्वीपो मे भी पहुच गया। क्षेत्रीय विस्तार के साथ इसमें सैद्धान्तिक परिवर्तन भी आते गए। ईसा से पूर्व ५०० वर्षो मे इसका मुख्य बल अष्टाङ्गिक मार्ग पर रहा है। उस समय भिक्षुओ में ध्यान की विविध प्रक्रियाओ का बहुत प्रचार था। बौद्ध धर्म मे चार आर्य सत्य माने जाते है—

१ सबकुछ दु.ख-रूप है,
२ ससार की समस्त वस्तुए क्षणिक है,
३ सब स्वलक्षण अर्थात् परस्पर-भिन्न है;
४ सब शून्य अर्थात् निस्स्वभाव है,

उपर्युक्त पांच शताब्दियो मे मुख्य बल प्रथम दो आर्य सत्यो पर रहा है।

ईस्वी-पूर्व प्रथम शताब्दी मे नागार्जुन नाम के प्रसिद्ध आचार्य हुए। उन्होंने शून्यत्व पर बल दिया और उसे तर्क के आधार पर सिद्ध किया। दूसरे दर्शन आत्मा, परमाणु, पञ्चभूत, ईश्वर आदि जिन तत्त्वो तथा कार्यकारणभाव आदि जिन शाश्वत सिद्धान्तो का प्रतिपादन करते है, नागार्जुन ने उनका उन्मूलन कर दिया। यही से बौद्ध धर्म मे शून्यवाद का विकास हुआ।

इस समय की एक विशेषता और है। अबतक धर्म और दर्शन एक-दूसरे से मिले हुए थे। दोनो परस्पर-पूरक थे, किन्तु नागार्जुन के पश्चात् दोनो पृथक् होगए। परिणामस्वरूप दर्शन बौद्धिक विलास की वस्तु बन गया और जीवन से दूर होने लगा। दूसरी ओर धर्म श्रद्धामात्र रह गया, उसपर तर्क का जो अकुश था वह हट गया। परिणामस्वरूप

धर्म के नाम पर सम्भव एव असम्भव बातो की कल्पना होने लगी। प्रत्येक धार्मिक परम्परा अपने-अपने प्रवर्तक को ऊचा सिद्ध करने के लिए उनके जीवन के साथ विचित्र घटनाए जोडने लगी। इस प्रकार धर्म के क्षेत्र मे पौराणिक युग का अवतार हुआ। नागार्जुन के पश्चात् असङ्ग, वसुबन्धु, मैत्रेय, दिङ्नाग, धर्मकीर्त्ति आदि अनेक प्रसिद्ध दार्शनिक हुए।

ईसा के पश्चात् पाच सौ वर्ष बीतने पर बौद्ध धर्म मे एक नया मोड आया। दार्शनिक क्षेत्र मे शून्यवाद के स्थान पर विज्ञानवाद का जन्म हुआ और यह प्रतिपादित किया गया कि बाह्य और आभ्यन्तर समस्त जगत् ज्ञानमात्र है। दूसरी ओर साधना के क्षेत्र मे वज्रयान का अवतार हुआ और बौद्ध तन्त्रो की रचना हुई। इसके पश्चात् ५०० वर्ष तक तान्त्रिक साधना का प्रचार बढता गया। आठवी शताब्दी मे शङ्कराचार्य तथा कुमारिलभट्ट आदि विद्वानो ने इसका विरोध किया। इसके दो परिणाम हुए। बहुत-से बौद्ध दार्शनिक एव तान्त्रिक तिब्बत, चीन आदि देशो मे चले गए जहा उनका पर्याप्त स्वागत हुआ। जो यहा रहे वे हिन्दू-परम्परा मे मिल गए। उनका नाम-पट्ट बदल गया, किन्तु साधना-पद्धति वही चलती रही। जोगी, नाथ, बावला, सहजिया आदि सम्प्रदायो के रूप मे अब भी उसके अवशेष विद्यमान है। दसवी शताब्दी के लगभग बौद्ध परम्परा पर एक अन्य आक्रमण हुआ—यह था मुसलमानो का। उन्होने बौद्ध मूर्त्तियो को तोड डाला, विहारो का ध्वस कर दिया, भिक्षुओ का सामूहिक वध किया एव बौद्ध साहित्य को जला डाला। फारसी मे मूर्तिपूजक को बुतपरस्त कहा जाता है। वहा मूर्ति और बुत पर्याय-शब्द है। 'बुत' शब्द बुद्ध का अपभ्र श है। बौद्धो मे मूर्त्ति-पूजा का बहुत अधिक प्रचार था। राज्याश्रय मिलने के कारण सारे भारत मे बुद्ध की मूर्तिया फैली हुई थी। परिणामस्वरूप नवागन्तुको ने मूर्ति का नाम बुत (बुद्ध) रख दिया।

चीन, जापान तथा तिब्बत मे जाकर बौद्ध धर्म मे देश-कालानुसार अनेक परिवर्तन हुए। वहा के राष्ट्रीय जीवन पर भी इसका प्रभाव पडा।

चीन के विद्वानो ने बौद्ध साहित्य का अपनी भाषा मे अनुवाद किया। बौद्ध धर्म के बहुत-से ग्रन्थ अपने मूल रूप मे नष्ट हो चुके है, किन्तु चीनी अनुवाद के रूप में अब भी मिलते है। चीन मे बौद्ध धर्म की अनेक नई शाखाओ का जन्म हुआ। जापान मे जाकर इसने वर्त्तमान जीवन के प्रति अनासक्ति का पाठ पढाया। वहा जैन (Zen) के नाम से बौद्ध धर्म के ध्यान-मार्ग का पर्याप्त विकास हुआ है। तिब्बत मे जाकर इसने लामा धर्म का रूप ले लिया, जहा एक ही व्यक्ति धर्मगुरु भी था और राजा भी।[1] गृहस्थाश्रम को सर्वथा हेय समझनेवाला धर्म इन दोनो का समन्वय कैसे कर सका, यह धार्मिक इतिहास की एक रोचक कथा है। बौद्ध धर्म की महायान शाखा के मुख्य केन्द्र उपर्युक्त तीन देश रहे हैं। इसके अतिरिक्त लङ्का, बर्मा, जावा, सुमात्रा तथा मध्य एशिया के अन्य द्वीपो मे हीनयान का प्रचार हुआ है।

---

१. १९५९ मे चीन ने आक्रमण करके तिब्बत पर अधिकार कर लिया है और लामाओं को वहां से भागना पड़ा है। उसके प्रधान दलाई लामा भाग कर भारत में आगए है। अतः वह परम्परा छिन्न-भिन्न हो गई है।

: १

हिन्दू धर्म

उपर्युक्त विवेचन से यह बात प्रकट होती है कि भारत मे यद्यपि अनेक परम्पराओ का जन्म हुआ, तथापि अन्त मे जाकर तीन मुख्य स्रोत रह गए। वे हैं जैन, बौद्ध और वैदिक। प्रथम स्रोत लगभग ढाई हजार वर्ष से अपने मूल रूप मे चला आ रहा है। यद्यपि उसमे भी साम्प्रदायिक भेद खडे हुए, किन्तु स्थूल रूप नही बदला। उसका परिचय आगे दिया जायगा। बौद्ध परम्परा मे बाह्य मिश्रण के अतिरिक्त अनेक परिवर्तन हुए, जिन्होने उसका कायापलट कर दिया।

वैदिक परम्परा का वर्त्तमान रूप हिन्दू धर्म है। हिन्दू परम्परा मे जीवन के सभी तत्त्व सम्मिलित है। जबकि जैन और बौद्ध परम्पराओ का मुख्य लक्ष्य आध्यात्मिक विकास रहा है। जन्म ही नही, माता के गर्भ मे आने से लेकर मृत्यु-पर्यन्त व्यक्ति का जीवन कैसा होना चाहिए, समाज-रचना का क्या आधार है, राजा और प्रजा का क्या सम्बन्ध है, आदि सभी बातो पर हिन्दू परम्परा मे विशद विवेचन है। वहा लौकिक तथा लोकोत्तर दोनो लक्ष्यो पर समान रूप से बल दिया गया है।

किसी भी धर्म की व्याख्या करते समय हमारे सामने दो बातें आती है—१ जीवन के प्रति दृष्टिकोण, तथा २. जीवन-पद्धति। जीवन के प्रति दृष्टिकोण को साधारणतया दर्शनशास्त्र के अन्तर्गत किया जाता है। वास्तव मे वह जीवन-दर्शन ही है। यूरोप मे धर्म और दर्शन के क्षेत्र भी परस्पर-भिन्न है, किन्तु भारत मे दर्शन को मोक्ष-शास्त्र कहा गया है। वास्तव मे देखा जाय तो पथ का अनुसरण और उसका प्रदर्शन दोनो एक-दूसरे के पूरक हैं, या यो कहा जा सकता है कि दोनो

एक-दूसरे के विना अधूरे है। जिस प्रदर्शन के पीछे अनुसरण नही है, वह कोरा बुद्धिविलास है, और जिस अनुसरण के साथ सम्यक् दर्शन नही है वह भेड़-चाल है। जीवन-पद्धति के पुन दो भेद हो जाते है—१ सामाजिक जीवन-पद्धति, और २ वैयक्तिक जीवन-पद्धति।

जीवन के प्रति दृष्टिकोण का विवेचन करते समय हमारे सामने दो प्रश्न आते है—१ जीवन का स्वरूप, और २ जीवन का लक्ष्य। जीवन के स्वरूप को लेकर हिन्दू धर्म मे अनेक परम्पराएं है। कुछ परम्पराए बाह्य जगत् को सत्य मानती हैं और इसकी विविध प्रकार से व्याख्या करती है। अन्य परम्पराए वाह्य जगत् को असत्य या मिथ्या वताती है। किन्तु एक बात सर्वानुगत है कि आन्तर जगत् को कोई परम्परा असत्य नही बताती और उसीको जीवन का चरम लक्ष्य मानती है। बाह्य जगत् को महत्त्वहीन, निस्सार या मिथ्या समझकर आन्तर जगत् मे रमण करना हिन्दू ही नही, भारतीय साधना का सर्वसम्मत मूल तत्त्व है।

समस्त हिन्दू परम्पराए यह भी मानती है कि वाह्य परिवर्तन के नीचे कोई आधारभूत शाश्वत तत्त्व है। उसे द्रव्य, प्रकृति, पुरुप या ब्रह्म आदि विभिन्न नाम दिए गये है। साथ ही परिवर्तनशील जगत्-जजाल को छोडकर उस परिवर्तनशील तत्त्व की गवेपणा पर बल दिया गया है।

हिन्दू परम्पराए ससार का विश्लेषण जड और चेतन के रूप मे भी करती है। जड को कुछ परम्पराए वास्तविक मानती हैं और कुछ अवास्तविक; किन्तु चेतन को सभी वास्तविक मानती है और जड से चेतन की ओर बढना जीवन का लक्ष्य मानती है। हिन्दू दार्शनिक परम्पराओ का विभाजन एक अन्य प्रकार से भी किया जाता है। कुछ परम्पराए वहुत्ववादी है अर्थात् विश्व के मूल मे अनेक तत्त्वो को स्वीकार करती है; और कुछ एकत्ववादी है, अर्थात् विश्व की उत्पत्ति किसी एक तत्त्व से बताती है। उनकी दृष्टि में एकता वास्तविक है और प्रतीयमान अनेकता

केवल कल्पना या स्वप्न। वहुत्ववादी परम्पराओ ने भी विश्व मे प्रतीत होनेवाली अपरिगणित विविधताओ को यथासभव न्यूनतम तत्त्वो मे विभक्त करने का प्रयास किया है। वैशेषिक दर्शन ने विश्व को सात पदार्थो मे विभक्त किया और साख्य दर्शन ने केवल दो मे। अद्वैतवादी परम्पराओ ने मूल मे एक ही तत्त्व बताया। किसीने उसे ब्रह्म के रूप मे वताया, किसीने शिव के रूप मे, किसीने शक्ति के रूप मे और किसीने शव्द के रूप मे। किन्तु यह तथ्य स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है कि हिन्दू परम्परा का प्रवाह अनेकता से एकता की ओर रहा है।

जीवन-पद्धति—जीवन-पद्धति की दृष्टि से भी हिन्दू धर्म मे अनेक मान्यताए है। किन्तु वे परस्पर-विरोध के स्थान पर विभिन्न रुचियो को प्रकट करती है। जो वर्ग बुद्धि-प्रधान है स्वय सत्य की खोज करना चाहता है, जिसे दूसरे पर विना सोचे-समझे विश्वास करना अथवा दूसरे के वताये हुए मार्ग पर चलना पसन्द नही है उसके लिए ज्ञान-मार्ग है। जो व्यक्ति खाली वैठकर सोचना पसन्द नही करता, जो परिश्रमी, कर्मठ एव साहसी है, उसके लिए कर्म-मार्ग है। उसे बताया गया है कि व्यक्ति को फल के प्रति अनासक्त रहकर कर्म करते जाना चाहिए। हिमालय के शिखर को लक्ष्य बनाकर चलनेवाले व्यक्ति के लिए चलना ही अपने-आप मे फल है। प्रत्येक कदम पर नये फल की प्राप्ति हो रही है। शिखर पर पहुचना तो उस प्राप्ति की पूर्णता है, जहा पहुचने पर अनन्तर-प्राप्ति नही होती। जो लोग हृदय-प्रधान तथा भावुक हैं, जो व्यर्थ की छानबीन मे न पडकर किसी एक तत्त्व के चरणो मे अपना सर्वस्व अर्पण करना चाहते है, अथवा उस तत्त्व के साथ मिल जाना चाहते है, उनके लिए भक्ति-मार्ग है। इस प्रश्न का कोई महत्त्व नही है कि वह तत्त्व राम है, कृष्ण है, शिव है या अन्य कोई है। असली महत्त्व तो अर्पण का है, अर्थात् व्यक्ति स्वार्थो के दायरे से निकलकर किसी दूसरे मे लीन हो जाय। उसीके लिए जिये और उसीके लिए मरे। यहा तक कि खाना-पीना, उठना-वैठना, सवकुछ उसीके लिए हो जाय। इस प्रश्न का भी कोई महत्त्व

नही है कि उस अर्पण का प्रकार क्या है। अर्पण करनेवाला अपने उपास्य को चाहे भगवान् के रूप मे माने चाहे मित्र के रूप में, चाहे पति के रूप मे, चाहे उपपति के रूप में, चाहे पत्नी या नायिका के रूप मे और चाहे पुत्र के रूप में—यह उपासक की अपनी रुचि है। जिस रूप मे मन लगे और एकाग्रता आ सके, वही उपादेय है। यहां तक कि शत्रु के रूप मे भी उपास्य का ध्यान किया जा सकता है।

भगवद्गीता मे उपर्युक्त तीनो मार्गो का सुन्दर विवेचन है। भागवत मे भक्ति की प्रधानता होने पर भी तीनो का समन्वय है। सर्वश्रेष्ठ भक्ति का स्वरूप बताते हुए उसमे कहा गया है कि वह अहैतुकी और अप्रतिहता होनी चाहिए। अहेतुकी का अर्थ है, जहा भक्ति अपने-आप मे लक्ष्य है, उसका अन्य कोई प्रयोजन नही है, अर्थात् भक्त भक्ति मे ही परम सुख मानता है। इसके द्वारा ससार या मोक्ष के अन्य किसी सुख की कामना नही करता। अप्रतिहता काअर्थ है अन्य किसी स्वार्थ की तुलना मे गौण न होना। इसीलिए भागवत-परम्परा मे भक्ति को मुक्ति से भी ऊचा बताया गया है। कुन्ती भगवान् की स्तुति करते हुए कहती है, "हे भगवन्, मुझे सदा विपत्तिया घेरे रहे, क्योकि उसी समय आपके दर्शन होते है।" वह कष्टो से मुक्ति प्राप्त करने के लिए भक्ति नही करती, वरन् भगवान् के दर्शनो के लिए कष्टो का आह्वान करती है। उपर्युक्त तीनो मार्गो का चरम लक्ष्य एक ऐसा तत्त्व है, जिसे सामने रखकर व्यक्ति बढता चला जाय। चाहे मूल प्रेरणा विश्व के रहस्य की जिज्ञासा हो जो कि एक वैज्ञानिक मे पाई जाती है। ऐसे अनेक वैज्ञानिक हुए है जिन्होंने किसी रहस्यका पता लगाने के लिए समस्त सुखों को तिलाञ्जलि दे दी, उसके लिए जीवन का परित्याग कर दिया। दूसरी प्रेरणा विश्व का नेतृत्व करनेवाले उस महापुरुष मे पाई जाती है, जो विश्व मे फैले हुए अन्याय एव अत्याचार को नही सह सकता—दुखियो के कष्ट देखकर जिसका हृदय द्रवित हो उठता है और उन्हे दूर करने का संकल्प करता है। अपने सुख-दु.ख को भूलकर अन्याय, अत्याचार तथा

अभाव को दूर करने के संघर्ष में जुट जाता है। तीसरी प्रेरणा भक्त में पाई जाती है जो अपने लक्ष्य को किसी साकार में सीमित करके उसके लिए जीवन अर्पित कर देता है। ज्ञानमार्गी सत्य का उपासक होता है, कर्ममार्गी शक्ति का और भक्तिमार्गी सौन्दर्य एव ऐश्वर्य का।

हिन्दू शास्त्रो में उस परम तत्त्व को 'सच्चिदानन्द' शब्द से कहा गया है। सत् शक्ति का प्रतीक है। इसका चरम विकास उस अवस्था में है जब व्यक्ति को अपने अस्तित्व के लिए किसी दूसरे व्यक्ति पर अथवा वाह्य वस्तु पर निर्भर नही रहना पड़ता। इसीलिए ईश्वर को स्वयं 'सत्' कहा गया है। दूसरे पर निर्भर रहना ही दुर्बलता है। अन्याय, अत्याचार तथा अभाव का अस्तित्व तभीतक है जबतक परावलम्बन है। 'चित्' का अर्थ स्वय प्रकाश है। हम दूसरे को प्रकाशित करें या न करें, किन्तु स्वय किसी बात के लिए अंधेरे में न रहें। ईश्वर चिद्-रूप है अर्थात् वहां किसी प्रकार की अज्ञानता या अंधकार नही है। तीसरा तत्त्व 'आनन्द' अथवा सुख है। परमात्मा स्वयं सुख-रूप है, आनन्द-रूप है, स्वय सुन्दर है, सभीके आकर्षण का केन्द्र है। व्यक्ति ज्यो-ज्यो उसकी ओर बढता है, आनन्द एव सुख की वृद्धि होती है।

ईश्वर के इसी स्वरूप को सामने रखकर वैदिक ऋषि प्रार्थना करता है—'हे भगवन्, मुझे असत् से सत् की ओर ले जाओ, अन्धकार से प्रकाश की ओर और मृत्यु से अमृतत्व की ओर। 'भागवत मे कहा गया है कि एक ही अद्वय तत्त्व विविध नामो से कहा जाता है। ज्ञानमार्गी उसे ब्रह्म कहते हैं, कर्ममार्गी परमात्मा और भक्तमार्गी भगवान्।

ईश्वर या विश्व का नियन्त्रण करनेवाली किसी अतीन्द्रिय शक्ति मे विश्वास हिन्दू धर्म की मुख्य विशेषता है। इसके दो रूप हैं—आदर्श के रूप मे और नियन्ता के रूप मे। प्रथम रूप का दिग्दर्शन ऊपर कराया जा चुका है। योगदर्शन मे ईश्वर का स्वरूप बताते हुए कहा है कि वह ऐसा पुरुष है जिसका क्लेश, कर्म, कर्मफल तथा उनके सस्कारों ने कभी स्पर्श नही किया। जो सर्वथा शुद्ध है। क्लेश पाच हैं—१. अविद्या, अर्थात्

अज्ञान, २. अस्मिता अर्थात् अहकार, ३. राग, ४. द्वेष तथा ५ अभिनिवेश अर्थात् दुराग्रह। ये पाच क्लेश आत्मा को मलिन करते है। ईश्वर इनसे परे है। इसी प्रकार भले-बुरे कर्म, उनके फल तथा उनके सस्कारो से भी ईश्वर सर्वथा मुक्त है। ऐसे ईश्वर का ध्यान समाधि, अर्थात् चित्त की एकाग्रता, के लिए उपयोगी माना गया है। यहा भी मुख्य दृष्टि आदर्श की है।

ईश्वर का दूसरा रूप जगन्नियन्ता का है। वह सृष्टि का रचयिता है, पालक है और सहारक भी। प्राणियो को सुख-दु ख देना भी उसीका कार्य है। इस रूप का विस्तृत प्रतिपादन पुराणो मे मिलता है और भक्ति-मार्ग मे इसपर अधिक बल दिया जाता है। हिन्दू धर्म की एक अन्य विशेपता कर्म-सिद्धान्त है। वास्तव मे देखा जाय तो भारत की सभीप रम्पराए इसे मानती है। इसका अर्थ है व्यक्ति जैसा कार्य करता है, उसका फल अवश्य मिलता है। अच्छे कर्म से अच्छा फल मिलता है और बुरे कर्म से बुरा फल—चाहे वह इस जन्म मे मिले या किसी अन्य जन्म मे। कष्ट के समय इस सिद्धान्त से सान्त्वना मिलती है। व्यक्ति उसे किसी अन्य व्यक्ति का अत्याचार न समझकर अपने ही कर्मो का फल मानता है। साथ ही भविष्य मे शुभ कर्म करने की प्रेरणा भी प्राप्त होती है। इस सिद्धान्त का एक दुष्परिणाम भी हुआ है और वह है भाग्य के भरोसे बैठे रहने और अकर्मण्यता का जीवन व्यतीत करने की आदत। किन्तु यह उस सिद्धान्त की अज्ञानता का परिणाम है। अपने-आप मे यह सिद्धान्त अकर्मण्यता की ओर नही ले जाता, वरन् दुष्कर्म के स्थान पर सुकर्म करने की प्रेरणा देता है।

जीवन-पद्धति के विपय में सैद्धान्तिक विवेचन के पश्चात् हम आचरण पर आते है। सर्वसाधारण के आचरण का अनुशासन चार पुरुपार्थों, चार वर्णो और चार आश्रमो द्वारा किया गया है। इनमे पुरुपार्थ साध्य को प्रकट करते है और शेष साधन अर्थात् आचरण को। वर्ण-व्यवस्था सामाजिक आचरण का अनुशासन है और आश्रम-व्यवस्था वैयक्तिक आचरण का। इनका सक्षिप्त रूप निम्नलिखित है—

१. **चार पुरुषार्थ**—जीवन के सर्वांगीण दृष्टिकोण को सामने रखकर हिन्दू धर्म मे चार पुरुषार्थो का प्रतिपादन है। व्यक्ति को जीवन के सर्वतोमुखी विकास के लिए चार बातो को लक्ष्य मे रखना चाहिए। वे है—१ धर्म २. अर्थ ३ काम और ४ मोक्ष। धर्म का अर्थ है कर्त्तव्य, जो व्यक्ति तथा समाज की रक्षा एव विकास के लिए आवश्यक है। राजा तथा प्रजा, स्त्री तथा पुरुष, सभीके लिए यह आवश्यक है कि वे अपने-अपने कर्त्तव्य का पालन करे। उसकी उपेक्षा करने से अव्यवस्था फैलती है और वह पाप है। दूसरा पुरुपार्थ अर्थ है, इसका अर्थ है जीवन के लिए आवश्यक सामग्री का सग्रह। काम का अर्थ है—आनन्द लेना अथवा इच्छाओ को पूर्ण करना; और, मोक्ष का अर्थ है अन्त मे समस्त बन्धनो को छोडकर निर्लिप्त हो जाना। चरक मे इन पुरुपार्थो का क्रम बताते हुए कहा है कि धर्म से अर्थ की प्राप्ति होती है, धर्म और अर्थ दोनो से काम अर्थात् इच्छाओ की पूर्ति या सुख की प्राप्ति और इन तीनो से तृप्त हो जाने पर मोक्ष अथवा निवृत्ति का लाभ होता है। इस क्रम पर न चलनेवाला व्यक्ति पाप का भागी होता है, अर्थात् जो व्यक्ति अर्थ-सचय करते समय धर्म को भूल जाता है, इसी प्रकार धर्म अर्थात् अपने उत्तरदायित्व और अर्थ अर्थात् साधनो पर ध्यान दिये बिना ही इच्छापूर्ति की ओर झुकता है उसकी कामनाए अमर्याद हो जाती हैं और अन्त मे उसे कष्ट उठाना पडता है। मोक्ष अर्थात् निवृत्ति के लिए भी हिन्दू धर्म का कथन है कि प्रथम तीन पुरुपार्थों का सचय किये विना उस ओर नही झुकना चाहिए।

२ **वर्ण-व्यवस्था**—हिन्दू धर्म समाज का सचालन करने के लिए उसे चार श्रेणियों में विभक्त करता है। प्रथम श्रेणी मे बुद्धि-प्रधान ब्राह्मण-वर्ग है जो सामाजिक तथा वैयक्तिक विकास के लिए आचार-सहिताओ का निर्माण करता है। विवादग्रस्त बातो में अपना निर्णय देता है तथा बौद्धिक विकास के लिए उत्तरदायी है। वह अपने-आप मे त्यागी एव तपस्वी है। दूसरा वर्ग क्षत्रिय का है जो शारीरिक बल के

द्वारा समाज की रक्षा करता है। उसका कर्त्तव्य नियमो का पालन कराना है, बनाना नही। इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दू धर्म मे प्राचीन समय से ही विधान का निर्माण करनेवाला वर्ग, पालन करानेवाले वर्ग से अलग रहा है। एक के हाथ मे शस्त्र-शक्ति थी और दूसरे के हाथ मे शास्त्र। पालन कराना और बनाना एक ही के हाथ मे होने पर दुरुपयोग की सभावना बनी रहती है। तीसरा वर्ग वैश्यो का है जो समाज की अर्थ-व्यवस्था के लिए उत्तरदायी है और चौथा शूद्रो का, जिसपर शारीरिक श्रम का उत्तरदायित्व था। इन वर्गो की रचना का आधार जन्म भी रहा है और गुण-कर्म भी। ऐसा युग भी आया जब जन्म पर अधिक बल दिया गया और वर्ग-विशेष पर अत्याचार हुआ, किन्तु इस व्यवस्था की मूल भावना किसीपर अत्याचार की नही थी। इसका लक्ष्य था परस्पर-सहयोग द्वारा सर्वतोमुखी सामाजिक तथा वैयक्तिक विकास।

इन वर्णो की अर्थ-नीति का आधार कर्त्तव्य-बुद्धि था, विनिमय नही। ब्राह्मण का कार्य था पठन-पाठन, दूसरी ओर क्षत्रिय तथा वैश्य का कर्त्तव्य था ब्राह्मण को दान देना तथा उसका भरण-पोषण करना। दोनो कार्य एक-दूसरे के पूरक थे। फिर भी प्रत्येक वर्ग के लिए यह विधान है कि वह अपना कार्य कर्त्तव्य समझकर करे। इसके लिए दूसरे से किसी प्रकार की अपेक्षा न करे। ब्राह्मण अपना कर्त्तव्य समझकर पठन-पाठन करे और उसके बदले मे अन्य वर्गो से कुछ न चाहे। इसी प्रकार क्षत्रिय और वैश्य अपना कर्त्तव्य समझकर ब्राह्मण को दान दे और उसके लिए जीवन-सामग्री का सम्पादन करे। वे भी इसे विनिमय के रूप मे नही, वरन् अपना कर्त्तव्य समझकर करते चले जाय। शूद्र अपना कर्त्तव्य समझकर सेवा के कार्य मे लगा रहे और अन्य वर्णवाले अपने कर्त्तव्य के रूप मे उसे भोजन, आच्छादन आदि जीवन-सामग्री देते रहे। इस व्यवस्था के कारण सामाजिक जीवन से क्रय-विक्रय की भावना दूर रही। प्रत्येक वर्ण अपना कार्य धर्म समझकर करता रहा। साथ ही उसके मन मे यह भी भावना थी कि वह अपने कार्य को जितने सुन्दर रूप मे करेगा, उतना ही धर्म

अधिक होगा। उसके मन मे वदले की अपेक्षा नही थी। जिस दिन परस्पर-विनिमय या क्रय-विक्रय की भावना आई, व्यक्ति स्वार्थी वन गया। वह कम देकर अधिक लाभ की अपेक्षा करने लगा। एक-दूसरे की लाचारी से लाभ उठाया जाने लगा। इस प्रकार परस्पर-प्रेम एव कर्त्तव्य-वुद्धि पर आश्रित सामाजिक सगठन छिन्न-भिन्न हो गया।

पहले कहा गया है कि वर्ण-व्यवस्था का आधार जन्म भी था और गुण-कर्म भी। जन्म को आधार मानने का लक्ष्य यही था कि उससे विद्याओ तथा कलाओ के विकास मे सहायता मिलती है। यह स्वाभाविक है कि विद्वान् व्राह्मण का पुत्र विद्या के क्षेत्र मे जितना विकास कर सकता है उतना शस्त्र अथवा युद्ध-कला मे नही। पिता के सस्कार, घर का वातावरण आदि सभी वातो का वालक के जीवन पर प्रभाव पडता है। एक शिल्पी का पुत्र पिता के शिल्प में जितना विकास करेगा, उतना अन्य क्षेत्र मे नही। पितृ-परम्परा का व्यवसाय लक्ष्य मे रहने पर जीवन मे एक निष्ठा भी आती है जो कि विकास का आवश्यक तत्त्व है। साधारण वाधाओ से घवराकर अथवा प्रलोभनो से आकृष्ट होकर पद-पद पर लक्ष्य वदलनेवाला व्यक्ति जीवन में वहुत आगे नही वढ सकता। सफलता के लिए दृढ सकल्प और कठोर सघर्प आवश्यक हैं और ये एक निष्ठा के विना सभव नही हैं। इन्ही वातो को सामने रखकर विभिन्न व्यवसायो के लिए जन्म को महत्त्व दिया गया। किन्तु इतिहास को देखने से पता चलता है कि इस विपय मे कठोरता कभी नही वरती गई। द्रोणाचार्य आदि व्राह्मणो ने क्षत्रिय का कार्य किया। जनक आदि क्षत्रियो ने व्रह्म-विद्या का उपदेश दिया तथा शूद्रो ने उपनिपदो की रचना की। इस प्रकार हम देखते हैं कि साधारण रूप से विभाजन होने पर भी विशिष्ट प्रतिभाओ के लिए कोई सामाजिक नियन्त्रण नही था।

३. **आश्रम-व्यवस्था**—वैयक्तिक विकास के लिए हिन्दू धर्म जीवन को चार भागो, अर्थात् आश्रमो, मे विभक्त करता है। पहला व्रह्मचर्य-आश्रम है जहा साधना एव परिश्रम के द्वारा भावी जीवन के लिए

तैयारी की जाती है ।. दूसरा गृहस्थाश्रम है जो कि समाज का मुख्य घटक है । यहा व्यक्ति ऐसा समतुलित जीवन व्यतीत करता है जहा सामाजिक उत्तरदायित्व और वैयक्तिक सुख परस्पर-बाधक होने के स्थान पर एक-दूसरे के पोषक बन जाते हैं । तीसरा आश्रम वानप्रस्थ का है, जहा व्यक्ति अपने सामाजिक उत्तरदायित्व को घटाकर निवृत्ति की ओर झुकता है । परिवार मे रहने पर भी वह मार्ग-दर्शन के अतिरिक्त किसी कार्य मे सक्रिय या उत्तरदायित्व-पूर्ण भाग नही लेता । चौथा सन्यास-आश्रम है । इससे व्यक्ति घर-बार छोडकर पूर्णतया आत्म-साधना मे लग जाता है । इस प्रकार हम देखते है कि आश्रम-व्यवस्था जीवन के स्वाभाविक क्रम को प्रकट करती है ।

हिन्दू परम्परा मे *राज्य-व्यवस्था, अर्थ-व्यवस्था, सामाजिक सगठन,* पारिवारिक जीवन, विवाह, सन्तानोत्पादन आदि सभी बाते धर्म के अन्तर्गत है और उनके लिए मर्यादाए बनी हुई है । इतना ही नही, स्वस्थ राष्ट्रीयता का निर्माण करने के लिए भारत की नदियो, पर्वतो, वनो तथा अन्य भौगोलिक तत्त्वो को दिव्यता प्रदान की गई और पूर्व से पश्चिम एव उत्तर से दक्षिण तक समस्त भूखण्ड को दैवी एकता के रूप मे बाध दिया गया । सुदूर दक्षिण मे रहनेवाला हिन्दू रामेश्वरम् मे शिवलिंग के दर्शन करके चलता है और अनेक तीर्थो एव पवित्र स्थानो के दर्शन करता हुआ कश्मीर की पहाडियो मे पहुचता है । वहा वह अमरनाथ के दर्शन करता है और अपने को धन्य मानता है । इसी प्रकार एक यात्री पश्चिमी तट पर द्वारिकापुरी के दर्शन करके चलता है और घूमता हुआ पूर्वी तट पर गगा और समुद्र के सगम को देखता है । ये पवित्र स्थान भारत की अखडता को प्रकट करते है ।

: २ :

बौद्ध धर्म

भारत की धार्मिक परम्पराओ का दूसरा स्रोत बौद्ध धर्म है। इसका जन्म ईसा-पूर्व पाचवी शताब्दी मे हुआ और डेढ़ हजार वर्ष के प्रभावपूर्ण जीवन के पश्चात् यह प्रकट सम्प्रदाय के रूप मे भारत से लुप्त हो गया, किन्तु अप्रकट रूप मे इसका प्रभाव अब भी विद्यमान है। भगवान् बुद्ध का मुख्य बल नैतिकता पर था। अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि नैतिकता के मूल सिद्धान्तो पर बौद्ध धर्म मे पर्याप्त विवेचन मिलता है। बुद्ध के ढाई सौ वर्ष पश्चात् सम्राट् अशोक ने इसका प्रचार विदेशो मे भी प्रारम्भ किया और इसके लिए लका, तिब्बत, चीन, जावा, सुमात्रा, बर्मा आदि अनेक देशो और द्वीपो मे धर्म का प्रचार करने के लिए भिक्षुओ को भेजा। कलिंग के महायुद्ध मे सम्राट् अशोक को विजय तो प्राप्त हुई, किन्तु उसमे हजारो व्यक्ति मारे गए। यह देखकर सम्राट् का हृदय खिन्न हो उठा और वह अहिंसक बन गया। अपनी धर्मलिपियो मे वह कहता है, 'धर्म-विजय ही वास्तविक विजय है।' इसका अर्थ है प्रेमपूर्वक हृदय-परिवर्तन। इस धर्म-विजय के लिए ही सम्राट् ने विदेशो मे भिक्षु-गण भेजे।

दो शाखाए—बौद्ध धर्म के अनुसार आत्मा एक प्रवाह है जिसमे प्रतिक्षण ज्ञान, इच्छा तथा अनुभूतियो की धारा बहती रहती है। कभी उसका लक्ष्य शुभ होता है और कभी अशुभ। इसीका नाम ससार है, अर्थात् ससरण (मिलकर बहना)। इस प्रवाह का मूल कारण पुराने सस्कार है। इन्हे वासना कहा गया है। वासना राग-द्वेष, सुख-दु ख आदि विकारो को जन्म देती है और उन विकारो से नये सस्कार वासना के रूप मे परिणत होते जाते है। इस प्रकार अनादि प्रवाह चल रहा है। वासना दोनो

प्रकार की है। शुभ वासना मे करुणा, परोपकार, उदारता, प्रेम आदि सात्त्विक विचार उत्पन्न होते है और अशुभ वासना से दुख, राग, द्वेप, मोह, स्वार्थ आदि अशुभ विचार।

दो शाखाए जीवन के लक्ष्य की दृष्टि से बौद्ध धर्म मे दो मार्ग है—हीनयान और महायान। हीनयान के अनुसार शुभ तथा अशुभ दोनो प्रकार की वासनाए हेय है। वहा मोक्ष का अर्थ है जीवन-प्रवाह का सूख जाना। आत्मा दीपक की लौ के समान है जिसमे प्रति-क्षण नया तेल और नई बत्ती जलती रहती है। जब तेल और बत्ती समाप्त हो जाते हैं तो वह अपने-आप बुझ जाता है। इसका अर्थ है कि नई लौ नही बनती। जो लौ चमक रही थी, वह कहा गई, यह प्रश्न ही खडा नही होता। इसी अवस्था को निर्वाण कहते हैं। आत्मा भी दीपक की लौ के समान है जहा प्रतिक्षण वासना-रूप मे पडे हुए सस्कार विविध अनुभूतियो के रूप मे प्रकट होते रहते है। वासना की समाप्ति होने पर अनुभूतिया अपने-आप बन्द हो जाती हैं। हीनयान के मत से यही जीवन का चरम लक्ष्य है।

इसके विपरीत महायान अशुभ वासना का परित्याग करके शुभ वासना के विकास पर बल देता है। हीनयान केवल निवृत्ति पर बल देता है और महायान शुभ की ओर प्रवृत्ति तथा अशुभ से निवृत्ति पर। हीनयान का लक्ष्य वैयक्तिक कल्याण है। अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति साधना द्वारा वासनाओ का क्षय करके निर्वाण प्राप्त कर सकता है। इसीको अर्हत्यान भी कहते है। दूसरी ओर महायान का मत है कि अशुभ वासनाओ के क्षय से बुद्धत्व की प्राप्ति हो जाती है। किन्तु शुभ वासनाओ का उदय होने के कारण बुद्ध योग्यता होने पर भी निर्वाण मे प्रवेश नही करते। उनके मन मे यह विचार उठता है कि जबतक ससार मे असख्य जीव कष्ट भोग रहे है, तबतक मै अकेला सुखी नही बन सकता। वे समस्त प्राणियो के दुख को अपना दुख समझते है और उनके उद्धार के लिए अभियान प्रारम्भ करते है। इसी भावना को 'महाकरुणा' का उदय कहा गया है।

बौद्ध धर्म मे तीन प्रकार की करुणा बताई गई है। पहली स्वार्थ-मूला करुणा है, अर्थात् जिस व्यक्ति से भविष्य मे प्रतिदान की आशा हो, उसके प्रति सहानुभूति प्रकट करना। माता का पुत्र के प्रति स्नेह इसी करुणा के अन्तर्गत है। दूसरी सहेतुकी करुणा है, अर्थात् किसीको कष्ट मे देखकर हृदय का द्रवित होना। तीसरी अहैतुकी या महाकरुणा है, जहा व्यक्ति न किसी स्वार्थ से प्रेरित होता है और न पात्र को देखता है। दूसरो की सहायता करना, उनके कल्याण के लिए प्रयत्नशील होना तथा उनके उद्धार के प्रयत्न मे अपने सुख-दु ख को भूल जाना उसका स्वभाव बन जाता है। बादल बरसते समय यह नही देखते कि बदले मे उन्हे क्या मिलेगा अथवा सूखी जगह पर बरसना चाहिए और पानीवाली पर नही। वे केवल इसलिए बरसते है कि वह उनका स्वभाव है। वे इसके बिना नही रह सकते। सूरज भी इसी प्रकार चमकता है। बुद्ध महाकरणा का उदय होने पर इसी प्रकार प्राणियो के उद्धार के लिए चल पडते हैं।

हिन्दू धर्म मे करुणामय परमात्मा का जो रूप है वही महायान में बुद्ध के रूप मे मिलता है। अन्तर केवल इतना ही है कि हिन्दू धर्म परमात्मा को जगत् का स्रष्टा भी मानता है, किन्तु बुद्ध को ऐसा नही माना जाता।

जगत् के प्रति दृष्टिकोण

बौद्ध धर्म का जगत् के प्रति दृष्टिकोण चार आर्य सत्यो मे प्रकट होता है। वे है—

१ **सर्वं दुःखं दुःखम्**—अर्थात् सबकुछ दु ख ही दु ख है। जन्म, जरा, मृत्यु, रोग, इष्ट का नाश, अनिष्ट की प्राप्ति आदि सब दु ख-रूप है और इन्हीका नाम ससार है। जबतक अस्तित्व रहेगा, दु खो से छुटकारा नही हो सकता। अत दु खो से छुटकारा प्राप्त करने के लिए अपने अस्तित्व को ही समाप्त कर देना चाहिए।

२ **सर्वं क्षणिकं क्षणिकम्**—अर्थात् संसार की समस्त वस्तुएं क्षणभगुर हैं। कोई वस्तु स्थायी नही है। आना और जाना, उत्पन्न होना

और नष्ट होना ही ससार है। इन दो अवस्थाओ के बीच 'है' नाम की कोई अवस्था नही है।

३. सर्वं शून्यं शून्यम्—अर्थात् दुनिया मे जो कुछ प्रतीत हो रहा है वह सब एक-दूसरे पर अवलम्बित है। अपने-आप मे कुछ नही है।

४. सर्वं स्वलक्षं स्वलक्षम्—अर्थात् ससार की समस्त वस्तुए अपने-आप मे इकाई है। उनमे परस्पर किसी प्रकार की एकता या समानता नही है।

उपर्युक्त चार आर्य सत्यो पर बौद्ध धर्म एव दर्शन दोनो के प्रासाद खड़े है। इन्ही को सामने रखकर बौद्ध जीवन-दृष्टि एव जीवन-पद्धति का विकास हुआ।

बौद्ध साधना का प्रारम्भ निम्नलिखित चार सत्यो के साक्षात्कार से प्रारम्भ होता है—

१. **दुःख**—साधक को इस बात का भान होना चाहिए कि संसार दु खमय है। सुख समझकर इसमे फसा रहनेवाला व्यक्ति साधना के पथ पर अग्रसर नही हो सकता।

२. **दुःख-समुदय**—अर्थात् दु.ख कोई शाश्वत वस्तु नही है, कुछ कारणो से उत्पन्न होता है और उन कारणो के दूर होने पर वह दूर हो सकता है। साधक को उन कारणो का ज्ञान होना चाहिए।

३. **दुःख-निरोध**—साधक के मन मे यह विश्वास होना चाहिए कि दु ख मिट सकता है।

४. **निरोध-हेतु**—साधक को यह भी जानना चाहिए कि दु ख अपने आप नही मिटेगा। इसके विपरीत-उसे समुचित प्रयत्न करना होगा। दु.ख-निरोध के मार्ग को जाने विना वह उस ओर अग्रसर नही हो सकता।

साधना-मार्ग के रूप मे बौद्ध धर्म तीन बातो को उपस्थित करता है। वे है—(१) शील, (२) समाधि, और (३) प्रज्ञा। अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि नैतिक सदाचार शील के अन्तर्गत है। समाधि का अर्थ है

मन की एकाग्रता। इसके लिए बौद्ध धर्म मे ध्यान-मार्ग का पर्याप्त विकास हुआ है। तीसरा तत्त्व प्रज्ञा है, इसका अर्थ है वास्तविकता का साक्षात्कार। हीनयान में शील एव समाधि पर अधिक बल है और महायान मे प्रज्ञा पर। हीनयान मे अष्टाङ्गिक मार्ग का प्रतिपादन है और महायान मे पारमिता मार्ग का।

अष्टाङ्गिक-मार्ग

१ सम्यग्दृष्टि—इसका अर्थ है ससार को दुःख रूप-तथा हेय समझना। इसके लिए चार आर्य सत्य बताये जा चुके है।

२ सम्यक्-संकल्प—यह विकास की दूसरी सीढी है। इसका अर्थ है उत्थान के लिए मन मे निश्चय।

३ सम्यक-व्यायाम—विकास की तीसरी सीढी व्यायाम अर्थात् प्रयत्न है।

४. सम्यक्-स्मृति—स्मृति का अर्थ है पिछले अनुभव। उनके स्मरण मे रहने मे व्यक्ति पुन गलती नही करता।

५ सम्यक् वाक्—वाणी का सम्यक् प्रयोग।

६ सम्यक्-कर्मान्त—कर्मान्त बौद्ध धर्म की विशेप चर्या है। विकास के लिए इसका सम्यक् पालन आवश्यक है।

७ सम्यगाजीव—आजीव का अर्थ है आजीविका। साधक को अपने भरण-पोपण के लिए किसी अवैध उपाय को नही अपनाना चाहिए। सदा न्यायपूर्ण मार्ग पर ही रहना चाहिए।

८ सम्यक् समाधि—मन की एकाग्रता भी शुभ दिशा मे होनी चाहिए, अशुभ दिशा मे नही।

बुद्धघोप-कृत बौद्ध ग्रन्थ 'विशुद्धिमार्ग' मे इस अष्टाङ्गिक मार्ग का विस्तृत विवेचन है।

पारमिता-मार्ग

पारमिता शब्द परम से बना है। इसका अर्थ है श्रेष्ठतम या उच्चतम अवस्था। पारमिताए ६ हैं—

१. **दान-पारमिता**—दूसरो के हित के लिए स्वत्व के परित्याग का नाम दान है। इसकी पारमिता, अर्थात् पराकाष्ठा, तीन बातो से होती है—(क) जब दान के लक्ष्य मे किसी प्रकार की सीमा नही रहती, अर्थात् प्राणिमात्र दान का पात्र बन जाता है। (ख) जब दातव्य वस्तु की मीमा नहीं रहती, अर्थात् व्यक्ति अपना सबकुछ दूसरो के हित मे लगने को तैयार हो जाता है। (ग) जब दान के बदले मे किसी प्रकार की आकाक्षा नही रहती। दान-पारमिता की भावना करनेवाला किसी-का अहित नही चाहता। वह चाहता है कि उसपर जो मिथ्या दोष आरोपित करते है, या उसका अपकार करते है, या उपहास करते है, वे भी बुद्धत्व-लाभ करें।

२. **शील-पारमिता**—शील का अर्थ है सदाचार या नैतिकता। अहिंसा, सत्य आदि नैतिक नियमो के चरम उत्कर्ष को प्राप्त करना शील-पारमिता है। हिंसा तीन प्रकार की है—कायिक, वाचिक और मानसिक। पारमिता का साधन इन तीनो का परित्याग करता है। बौद्ध धर्म मे इस बात पर बहुत बल दिया गया है कि बुराई की ओर प्रवृत्त मन ही अन्य सब पापो का कारण है। अत सभीको अकुशल-चित्त छोडकर कुशल-चित्त की उपासना करनी चाहिए।

३. **शान्ति-पारमिता**—शान्ति का अर्थ है क्षमा अथवा सहन-शीलता का होना। अनेक कष्ट एव कठिनाइया आने पर भी धैर्य न छोडना और अपने पथ से विचलित न होना शान्ति है। इसकी पराकाष्ठा तब है जब व्यक्ति मरणान्त कष्ट आने पर भी विचलित नही होता।

४. **वीर्य-पारमिता**—वीर्य का अर्थ है उत्साह। अशुभ को छोड-कर शुभ की ओर उत्साह के साथ उत्तरोत्तर बढते जाना वीर्य-पारमिता की साधना है। अविषाद, बलव्यूह, निपुणता, आत्मवशता तथा स्वपर-समता से वीर्य-समृद्धि का लाभ होता है।

५. **ध्यान-पारमिता**—ध्यान का अर्थ है किसी एक वस्तु में चित्त की एकाग्रता। जब मन सर्वथा अपने वश मे हो जाता है तभी ध्यान-पार-

मिता की प्राप्ति होती है। बौद्ध धर्म मे इसके लिए अनेक विधियां बताई गई हैं। जापान मे 'जैन' के नाम से अब भी ध्यान-प्रक्रिया सिखाने के लिए कक्षाए लगती हैं जहा अनेक भिक्षु एक साथ बैठकर मानसिक एकाग्रता की साधना करते हैं। 'जैन' शब्द ध्यान का ही बिगड़ा हुआ रूप है।

६ प्रज्ञा-पारमिता—प्रज्ञा का अर्थ है सत्य का साक्षात्कार। पूर्वोक्त पाच पारमिताओ के द्वारा चित्त के निर्मल हो जाने पर ही प्रज्ञा का लाभ होता है। यह साधना की अन्तिम सीढी है।

कही-कही दस पारमिताओं का भी वर्णन है। वोधिचर्यावतार, सद्धर्म-पुण्डरीक आदि ग्रन्थो मे पारमिता-साधना की विस्तृत चर्चा है।

आध्यात्मिक विकास के क्रम को सामने रखकर बौद्ध धर्म मे दशभूमियो का वर्णन है।

ई० पू० छठी शताब्दी मे बौद्ध धर्म मे एक नया परिवर्तन आया और तान्त्रिक साधना की ओर झुकाव हो गया। इसके दो रूप है मन्त्रयान और वज्रयान। ये दोनो महायान की शाखाए हे। मन्त्रयान मे मन्त्र-पदो के द्वारा निर्वाण की प्राप्ति होती है। इन मन्त्र-पदो मे गुह्य शक्ति मानी जाती है। वज्रयान मे मन्त्रो द्वारा तथा 'वज्र' द्वारा निर्वाण का लाभ बताया गया है। वज्र का अर्थ है शून्य और विज्ञान, क्योकि उनका विनाश नही होता। वज्रयान अद्वैत दर्शन की शिक्षा देता हैं। सब सत्त्व-वज्र सत्त्व है और एक ही वज्र-सत्त्व सब जीवो मे पाया जाता है।

वज्र-साधना का दूसरा नाम शाक्त साधना है जिसका लक्ष्य महा-सुख की प्राप्ति है। इसके लिए कुछ ऐसे अनुष्ठान भी व्यवहार मे आये जो सामाजिक दृष्टि से असुन्दर माने गए। वास्तव मे देखा जाय तो शून्य-साधना का लक्ष्य था राग और द्वेष, घृणा और प्रेम, हेय और उपादेय सभी द्वन्द्वो पर विजय। सबमे एकता की वुद्धि। साधक के लिए कहा गया था कि वह निष्ठा और भोजन मे किसी प्रकार का भेद न करे, किन्तु इस उच्च स्तर पर पहुचने के लिए विशिष्ट आध्यात्मिक भूमिका की आवश्यकता थी। उस स्तर पर पहुचे बिना जब इस प्रकार की बाते सर्व-

साधारण के सामने आगई तो उनका दुरुपयोग होने लगा। 'अद्वयवज्रतन्त्र' मे इस साधना का लक्ष्य एव विधान सुन्दर रूप मे प्रतिपादित है।

शून्य की उपासना भारतीय आध्यात्मिक परम्परा की महत्त्वपूर्ण देन है। उसका साकार रूप महाकाल की उपासना मे मिलता है। शिव सहार के देवता है, श्मशान मे रहते हैं, खोपडियो की माला पहनते है, साप उनके आभूषण है, उनके ललाट मे कामनाओ को भस्म करनेवाली ज्वाला है। हाथ में विष का प्याला है। शरीर पर चिता की भस्म लिपटी हुई है। वे डमरू बजाकर नृत्य कर रहे है जिससे सृष्टि का कण-कण छिन्न-भिन्न हो रहा है। महादेव का यह रूप भारत मे क्षेत्र एव काल दोनो दृष्टियो से सर्वाधिक व्याप्त है। मुसलमानो मे यही उपासना खाके-परस्ती के रूप मे मिलती है।

कालान्तर मे जाकर वज्रयान तिब्बत, चीन, जापान आदि देशो मे फैला। तिब्बत का तो यह राजधर्म ही था। चीनाचार भी इसीका दूसरा नाम था। भारत मे यह हिन्दू धर्म के साथ मिल गया और नाथ-परम्परा के रूप मे विकसित हुआ, जिसका दसवी शताब्दी के बाद के भारतीय साहित्य पर पर्याप्त प्रभाव है। हिन्दी का तो जन्म ही नाथ-सम्प्रदाय से हुआ। इसीने साधना-सम्बन्धी साहित्य के लिए सस्कृत का मोह छोड-कर लोक-भाषा को अपनाया। इस समय भी भारत मे नाथ-परम्परा वालो के सैकडो ठिकाने है। सोलहवी शताब्दी मे उसीने कबीर-पन्थ के रूप मे एक नया विकास किया जिसने बाह्य क्रियाकाण्ड एव भेदो को छोडकर आन्तरिक साधना पर बल दिया है। पजाब में उसी समय गुरु नानक का जन्म हुआ। इन सब सन्तो ने धर्म का एक ऐसा रूप उपस्थित किया जो सम्प्रदायातीत था। जिसने पन्थो के कदाग्रह को छोडकर धर्म के सच्चे स्वरूप की ओर ध्यान आकृष्ट किया। उसने वैदिक एव वैदिकेतर भारतीय सम्प्रदायो को ही नही, अपितु इस्लाम का भी समन्वय करके दिखाया। उसी परम्परा का अन्तिम उत्कर्ष हमे गाधीजी मे मिलता है। उनसे पहले राजनैतिक और सामाजिक क्षेत्र धर्म के क्षेत्र से पृथक् थे।

उनकी साधनाएं भिन्न थी, लक्ष्य भिन्न थे और महापुरुष भी भिन्न थे। एक ही व्यक्ति दोनो ओर उत्कर्ष नही प्राप्त कर सकता था। अभ्युदय का मार्ग भिन्न था और नि श्रेयस् का मार्ग भिन्न। जीवन के दो स्वतन्त्र प्रवाह थे। गाधीजी ने उनमे समन्वय करके दिखाया और यह बताया कि जीवन की समस्त समस्याए सुलझाने का एक ही मार्ग है। उनमे किसी प्रकार का परस्पर-द्वन्द्व नही है। स्वार्थ और परमार्थ मे कोई भेद नही है। आसन्न स्वार्थ से आवृत दृष्टि वास्तविक स्वार्थ को नही देख पाती। गाधीजी ने अपने सिद्धान्तो को विभिन्न प्रयोगो द्वारा व्यवहार मे लाकर दिखाया। घर-बार न छोडने पर भी वे सन्यासी थे और साथ ही सक्रिय राजनीतिज्ञ। इस प्रकार हम देखते हैं कि गाधीजी मे धर्म का रूप निखर आया। अहिंसा, सत्य आदि नैतिक नियमो की उपासना और दैनिक व्यवहार एकत्र होगए।

: ३ :

जैन धर्म

हमने देखा कि भारत की लोकोत्तर धर्म-परम्पराओ मे परस्पर व्यवहार के विषय में तीन दृष्टिकोण मिलते है। पहला दृष्टिकोण अद्वैत-परम्पराओं का है। उनकी मान्यता है कि 'स्व' को इतना व्यापक बना दो जिसमे सबकुछ समा जाय। जबतक दूसरा है, भय बना रहेगा (द्वितीयाद्वै भय भवति)। अब सब एक ही होगए, तो कौन किससे डरेगा? कौन किसकी हिंसा करेगा? दूसरा दृष्टिकोण शून्यवादी परम्पराओ का है। उनका कथन है कि परमार्थ सत्य कुछ भी नही है। विचार करने पर कोई पदार्थ सत्य सिद्ध नही होता (यथा यथा विचार्यन्ते विशीर्यन्ते तथा तथा)। बौद्ध परम्पराओं ने मुख्यतया इस बात पर बल दिया है, 'जब वास्तव मे सब शून्य है तो अहता या ममता कैसी!'

उपर्युक्त दोनो मान्यताओ का मुख्य आधार तर्क है। लौकिक प्रत्यक्ष उनका समर्थन नही करता। लौकिक दृष्टि मे बाह्य और आभ्यन्तर प्रतीत होनेवाली सभी वस्तुए सत्य है। उनमे रहनेवाली अनेकता एव विषमता भी सत्य है। इनका अपलाप नही किया जा सकता। फिर भी विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि समानता स्वाभाविक है और विषमता परापेक्ष। घट और पट के परमाणुओं मे समानता होने पर भी रचना आदि मे भेद होने के कारण विषमता होगई। इसी प्रकार सभी जीवो या आत्माओ मे मौलिक समानता होने पर भी विविध प्रकार की विकृतियो के कारण विषमता आगई। प्राणियो का पृथक्-पृथक् अस्तित्व दुःख नहीं है। बुराई या दुःखों का कारण परस्पर वैषम्य-भावना है। इस वैषम्य-बुद्धि को दूर करके प्राणि-मात्र के प्रति समता की बुद्धि स्थापित

करना जैन धर्म का लक्ष्य-बिन्दु है। उसकी मान्यता है कि 'स्व' बुरा नही है, वरन् दूसरो के प्रति वैषम्य-बुद्धि ही बुरी है। जिस प्रकार वैदिक परम्परा मे सन्ध्योपासना तथा मुसलमानो मे नमाज नित्य-कर्म के रूप मे विहित है, इसी प्रकार जैन साधको के लिए सामायिक है। उसका अर्थ है, समता की आराधना या उसे जीवन मे उतारने का अभ्यास। जैन साधु का तो जीवन-व्रत ही सामायिक कहा जाता है। महाव्रत, तप आदि अन्य सभी बाते उसीका विस्तार हैं। क्षेत्र की दृष्टि से समता की इस आराधना के दो विभाग हैं आचार मे समता और विचार मे समता। आचार मे समता का अर्थ है अहिंसा, और यह जैन आचारशास्त्र का केन्द्र-बिन्दु है। विचार मे समता का अर्थ है स्याद्वाद। यह जैन दर्शन-शास्त्र का केन्द्रबिन्दु है।

अहिंसा की व्याख्या करते हुए जैन परम्परा मे बताया गया है कि स्वार्थबुद्धि या कषाय से प्रेरित होकर दूसरे के प्राणो को कष्ट पहुचाना हिंसा है। प्राण दस है—पाच ज्ञानेन्द्रिया, मन, वचन और शरीर, श्वासोच्छ्वास तथा आयु। इसका अर्थ है प्राण ले लेना या शारीरिक कष्ट पहुचाना ही हिंसा नही है, वरन् दूसरे की ज्ञानेन्द्रियो पर प्रतिबन्ध लगाना अर्थात् उन्हे स्वतन्त्र होकर देखने-सुनने आदि से रोकना, स्वतन्त्र चिन्तन और भाषण पर प्रतिबन्ध लगाना एव स्वतन्त्र विचरण में रुकावट डालना भी हिंसा है।

स्याद्वाद का अर्थ है दूसरे के दृष्टिकोण को उतना ही महत्त्व देना, जितना अपने दृष्टिकोण को दिया जाता है। जैन दर्शन के अनुसार कोई ज्ञान सर्वथा मिथ्या नही है और न सर्वज्ञ के अतिरिक्त अन्य किसी का ज्ञान पूर्ण सत्य है। सभी प्रतीतिया सापेक्ष सत्य है अर्थात् एक ही वस्तु को भिन्न अपेक्षाओ से अनेक रूपो मे प्रकट किया जा सकता है। एक ही व्यक्ति किसी अपेक्षा से भाई है, किसी अपेक्षा से पुत्र और किसी अपेक्षा से पिता। पिता और पुत्र परस्पर-विरोधी अवस्थाए है, किन्तु अपेक्षा-भेद मान लेने पर कोई विरोध नही रहता। ये रूप आपातत. परस्पर-

विरोधी होने पर भी मिथ्या नही है। अत अपनी-अपनी अपेक्षा से प्रत्येक दृष्टिकोण सत्य है। वस्तु अनन्तधर्मात्मक है। व्यक्ति अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल एव भाव की अपेक्षा से किसी एक धर्म को मुख्यता देता है। यदि वह अन्य धर्मो को गौण समझता है तो उसका ज्ञान सत्य है। यदि उनका अपलाप करता है, तो उसका ज्ञान मिथ्या है।

आचार और व्यवहार की इस समता को जीवन मे उतारने के लिए आचारागसूत्र मे एक उपाय बताया है कि 'व्यक्ति दूसरे के साथ व्यवहार करते समय, उसके स्थान पर अपने को रखकर देखे और फिर व्यवहार करे।' जिस व्यवहार को वह अपने लिए बुरा मानता है, उसे दूसरे के साथ न करे।

वेदान्त के अनुसार व्यक्ति के स्व-केन्द्रित होने का कारण अविद्या अर्थात् अनात्मा मे आत्म-बुद्धि है। बौद्ध धर्म के अनुसार इसका कारण तृष्णा है। जैन धर्म के अनुसार विषमता का कारण मोह है। इसके चार भेद है—क्रोध, मान, माया और लोभ। जीवन मे जैसे-जैसे उनकी उत्कटता घटती जाती है, आत्मा की निर्मलता बढती जाती है और उत्तरोत्तर विकास होता जाता है। इस दृष्टि से आध्यात्मिक विकास की भूमिकाओ को चार श्रेणियो मे विभक्त किया जाता है। जिस जीव मे मोह की उत्कट मात्रा है वह मिथ्यात्वी है, अर्थात् वह आत्म-विकास के मार्ग पर आया ही नही। वह दृष्टि एव चरित्र दोनो दृष्टियो से अविकसित है। दूसरी श्रेणी अपेक्षाकृत मन्द कषायवाले उन व्यक्तियो की है जो आत्मविकास के मार्ग को अच्छा तो मानते है किन्तु उसपर चलने मे अपने-आपको असमर्थ पाते है। वे सम्यग्दृष्टि हैं किन्तु चरित्र की दृष्टि से अविकसित। तीसरी श्रेणी मन्दतर कषायवाले गृहस्थो की है जो चरित्र को आशिक रूप से अपनाते है। चौथी श्रेणी मन्दतम कषाय वाले मुनियो की है जो चरित्र को पूर्णतया अपनाते है। कषाय के पूर्णतया नष्ट हो जाने पर व्यक्ति कैवल्य या आत्म-विकास की पूर्णता को प्राप्त कर लेता है।

उपर्युक्त श्रेणी-विभाजन का आधार कर्म-सिद्धान्त है और यह

माना गया है कि प्राणियो में विपमता का कारण कर्म-बन्धन है। व्यक्ति के भले या बुरे आचार-विचार के अनुसार आत्मा के साथ कर्म-पुद्गल बध जाते है और वे ही सुख-दु ख आदि का कारण वनते हैं। वे जैसे-जैसे दूर होते हैं, आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करता जाता है। पूर्णतया शुद्ध आत्मा ही परमात्मा है। जितने आत्मा इस प्रकार शुद्ध हो गए है, सभी परमात्मा वन गए है। उनके अतिरिक्त जगत् का रचयिता या नियन्ता कोई व्यक्ति-विशेष नही है।

व्यावहारिक क्षेत्र मे विषमता का कारण ममत्व या परिग्रह है। वह दो प्रकार का है. बाह्य वस्तुओ का परिग्रह और विचारो का परिग्रह। वस्तुओ का परिग्रह आचार मे हिंसा को जन्म देता है और विचारो का परिग्रह विचार-सम्वन्धी हिंसा का।

साधको के लिए पाच महाव्रतो का विधान है अहिंसा, सत्य, अस्तेय तथा ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। वास्तव मे देखा जाय तो यह अहिंसा या अपरिग्रह का ही विस्तार है। अपरिग्रह के विना अहिंसा की साधना नही हो सकती। ये पाचो जैन साधना के मूल तत्त्व है।

जैन धर्म, दर्शन एव परम्परा को विहगम दृष्टि से देखा जाय तो उनका केन्द्र-बिन्दु समता के अतिरिक्त कुछ नही प्रतीत होता। वही समता नीचे लिखे चार क्षेत्रो में वट गई है—

१ आचार में समता—अहिंसा, जैन आचार का मूल तत्त्व।

२ विचार मे समता—स्याद्वाद, जैन दर्शन का मूल तत्त्व।

३. प्रयत्न और फल मे समता—कर्म-सिद्धान्त, जैन नीतिशास्त्र का मूल तत्त्व।

४ सामाजिक समता—व्यक्ति-पूजा के स्थान पर गुण-पूजा, जैन सघ-व्यवस्था का मूल आधार।

प्रथम तीन समताओ के विषय मे सक्षेपत वताया जा चुका है। चौथी के विषय मे कुछ लिखने की आवश्यकता है।

जो व्यक्ति जैन धर्म स्वीकार करता है उसे कुदेव, कुगुरु और

कुधर्म को छोडकर सुदेव, सुगुरु और सुधर्म के प्रति विश्वास प्रकट करना होता है। देव आदर्श का कार्य करते है, गुरु उस आदर्श पर पहुचने के लिए पथ-प्रदर्शक का और धर्म वह पथ है जिसपर साधक को चलना है। देव या गुरु के स्थान पर किसी लौकिक या लोकोत्तर व्यक्ति-विशेष को नही रखा गया, न ही किसी वर्ण-विशेष को महत्त्व दिया गया है। किन्तु आध्यात्मिक विकास के द्वारा प्राप्त पदो को महत्त्व दिया गया है। जो विकास की सर्वोच्च भूमिका पर पहुच गए है वे देव हैं और जो साधक होने पर भी अपेक्षाकृत अविकसित है, वे गुरु है।

जैन परम्परा मे नमस्कार-मन्त्र तथा मगल-पाठ का बहुत महत्त्व है। प्रत्येक कार्य के प्रारम्भ मे उनका उच्चारण किया जाता है। नमस्कार-मन्त्र मे पाच पदो को नमस्कार है। अर्हन्त अर्थात् जीवनमुक्त, सिद्ध अथवा पूर्ण मुक्त ये दोनो देव-तत्त्व के रूप है। शेष तीन हैं आचार्य, उपाध्याय और साधु; ये तीनो गुरु-तत्त्व मे आते है।

मगल-पाठ मे अर्हन्त, सिद्ध, साधु एव धर्म इन चार को मगल-लोकोत्तम तथा शरण्य बताया गया है।

जैन अनुष्ठानों मे सामायिक के बाद प्रतिक्रमण का स्थान है। इसका अर्थ है—प्रत्यालोचना, जिसमे व्यक्ति जान-बूझकर या अनजान मे किये गए कार्यों का पर्यवेक्षण करता है और अगीकार किये हुए व्रतो मे किसी प्रकार की भूल-चूक या स्खलना के लिए पश्चात्ताप प्रकट करता है। यह प्रतिक्रमण रात्रि के लिए प्रात. सूर्योदय से पहले तथा दिन के लिए साय सूर्यास्त होने पर किया जाता है। साधु के लिए प्रतिदिन दोनो समय प्रतिक्रमण करना आवश्यक है। पन्द्रह दिन के लिए किया जानेवाला पाक्षिक, चार महीनो के लिए किया जानेवाला चातुर्मासिक तथा वर्ष के अन्त मे किया जाने वाला सावत्सरिक प्रतिक्रमण कहलाता है। जिस दिन यह प्रतिक्रमण किया जाता है, उसे सवत्सरी या पर्युषण कहते है। यह जैन धर्म का सबसे बड़ा पर्व है। जो व्यक्ति उस दिन प्रतिक्रमण करके पश्चात्ताप एवं प्रायश्चित्त द्वारा आत्म-शुद्धि नही करता, उसे अपने-आपको जैन कहने का अधिकार नहीं है।

प्रतिक्रमण के अन्त में ससार के समस्त जीवो से क्षमा-प्रार्थना करके मैत्री की घोषणा की जाती है। यह घोषणा, जो प्रतिक्रमण का निष्कर्ष है, इस प्रकार है—

खामेमि सव्वे जीवा सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झ ण केणई॥

अर्थात्—मैं सब जीवो से क्षमायाचना करता हू, सब जीव मुझे क्षमा प्रदान करे। सब प्राणियो से मेरी मित्रता है, किसीसे मेरा वैर नही है।

व्यक्तित्व-निर्माण की दृष्टि से देखा जाय तो जैन धर्म में वे सभी तत्त्व हैं जो पूर्णतया विकसित एव शक्तिशाली व्यक्तित्व में होने चाहिए।

हमारा व्यक्तित्व कितना दुर्बल या सबल है, इसकी कसौटी प्रतिकूल परिस्थितिया है। जो मनुष्य प्रतिकूल परिस्थितियों में घबरा जाता है, उसका व्यक्तित्व उतना ही दुर्बल समझना चाहिए। प्रतिकूल परिस्थिति को हम नीचे लिखे तीन भागो मे बाट सकते है—

१ प्रतिकूल व्यक्ति—जो व्यक्ति हमारा शत्रु है, हमें हानि पहुचाने वाला है या हमारी रुचि के अनुकूल नही है, उसके सम्पर्क मे आने पर यदि हम घबरा जाते है या मन-ही-मन कष्ट का अनुभव करते है तो यह व्यक्तित्व की पहली दुर्बलता है। जैन दृष्टि से इसका अर्थ होगा, हमने अहिंसा को जीवन में नही उतारा और सर्व-मैत्री का पाठ नही पढा।

२ प्रतिकूल विचार—अपने बने हुए विश्वासो के विपरीत विचार उपस्थित होने पर यदि हम घृणा का अनुभव करते है, उन विचारो को नही सुनना चाहते या उनपर सहानुभूति के साथ मनन नही कर सकते, तो यह दूसरी दुर्बलता है। जैन दृष्टि से इसका अर्थ होगा कि हमने स्याद्वाद को जीवन में नही उतारा।

३. प्रतिकूल वातावरण—इसके तीन भेद है—

(क) इष्ट की अप्राप्ति—अर्थात्-धन सम्पत्ति, सुख-सुविधाओं, परिजन आदि जिन वस्तुओ को हम चाहते हैं, उनका न मिलना।

(ख) अनिष्ट की प्राप्ति—अर्थात रोग, प्रियजन का वियोग, सम्पत्ति-नाश आदि जिन बातो को हम नही चाहते, उनका उपस्थित होना।

(ग) **विघ्न-बाधाएं**—अभीष्ट लक्ष्य [illegible] विविध प्रकार की अडचनें आना। उन परिस्थितियो मे घबरा जाना—व्यक्तित्व की तीसरी दुर्बलता है। जैन दृष्टि से इसका अर्थ होगा हमे कर्म-सिद्धान्त पर विश्वास नही है। दूसरे शब्दो मे व्याकुलता, घबराहट एव उत्साहहीनता के दो कारण है: या तो हम परावलम्बी है अर्थात् हम मानते है कि सुख की प्राप्ति आत्मा को छोड़कर बाह्य तत्त्वो पर अवलम्बित है, अथवा यह मानते है कि आत्मा दुर्बल होने के कारण प्रतिकूल परिस्थिति एव विघ्नबाधाओं पर विजय प्राप्त नही कर सकती। जैन धर्म मे अत्मा को अनन्त-चतुष्ट-यात्मक माना गया है—अर्थात् यह अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य-स्वरूप है। सुख को बाहर ढूढने का अर्थ है हमे आत्मा के अनन्त सुख मे विश्वास नही है। इसी प्रकार विघ्न-बाधाओ के सामने हार मानने का अर्थ है हमे आत्मा के अनन्त वीर्य मे विश्वास नही है। अहिंसा आत्मा के अनन्त सुख की अभिव्यक्ति का साधन है, स्याद्वाद अनन्त ज्ञान की अभिव्यक्ति का और निर्ममत्व अनन्त वीर्य की अभिव्यक्ति का। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन धर्म व्यक्तित्व-विकास के सभी आवश्यक तत्त्वो को उपस्थित करता है।

जैन धर्म मे व्यक्ति का लक्ष्य परमार्थ माना गया है, किन्तु उसकी साधना के लिए परार्थ या समाज-हित को भी उपादेय बताया है। इस भूमिका को श्रावक की भूमिका कहा है, जहा व्यक्ति पर-शोषण की वृत्ति को उत्तरोत्तर घटाता जाता है और उसके लिए विधि तथा निषेध दोनो मार्गों को अपनाता है। विधि के रूप मे वह पर-पोषण अर्थात् परहित या परोपकार के कार्यों को अपनाता है और निषेध के रूप मे शोषण के क्षेत्र को सकुचित करता चला जाता है।

आध्यात्मिक या कर्म-सिद्धान्त की दृष्टि से यह बताया जा चुका है कि जैन धर्म मोह-नाश पर बल देता है। मोह के मुख्य चार भेद है: क्रोध, मान, माया और लोभ।

मनुष्य का आध्यात्मिक विकास इन्हीकी उत्तरोत्तर न्यूनता पर

अवलम्बित है। यह न्यूनता दो प्रकार से सम्पादित होती है निरोध द्वारा तथा मंगलीकरण द्वारा। मन मे क्रोध उठने पर उसके बुरे परिणामो को सोचना, मैत्री-भावना द्वारा द्वेष-वृत्ति को कम करना, चित्त को आत्मचिन्तन में लगा देना आदि निरोध के मार्ग है, किन्तु क्रोध को किसी उपयोगी प्रवृत्ति मे वदल देना उसका मगलीकरण है। क्रोध का उदय तव होता है जव व्यक्ति की स्वतन्त्र वृत्ति मे किसी प्रकार की वाधा खड़ी हो जाती है। वह कुछ बोलना चाहता है किन्तु किसी कारण नही वोल पाता, कुछ करना चाहता है किन्तु नही कर पाता। इसी प्रकार खाने-पीने, उठने-वैठने, देखने-सुनने आदि के विषयमें इच्छा का व्याघात होने पर मनुष्य क्रोध करने लगता है। वास्तव मे देखा जाय तो यह उत्साह का व्याघात है। इसकी सहारक प्रतिक्रिया क्रोध है, किन्तु रचनात्मक प्रतिक्रिया द्विगुणित उत्साह से किसी शुभ कार्य को करना है। जव व्यक्ति दूसरे का हित करता है तो अस्मिता का पोषण होता है——उसे सात्त्विक आनन्द प्राप्त होता है, उत्साह की वृद्धि होती है और क्रोध-वृत्ति अपने-आप घट जाती है। यह क्रोध के मगलीकरण की प्रक्रिया है।

दूसरा कषाय 'मान' है। यह अहंकार, अभिमान, दर्प आदि शब्दो से कहा जाता है। इसमे मनुष्य अपने को दूसरो की अपेक्षा वडा समझता है। यह आकाक्षा वेष-विन्यास, आडम्वर, धन-वैभव का प्रदर्शन या अन्य वाह्य तत्त्वो के आधार पर पूरी की जाती है तो वह हेय है, किन्तु यदि उसी आकाक्षा को दूसरो की सहायता, उदारता तथा आन्तरिक गुणो के विकास द्वारा पूरा किया जाय, तो व्यक्ति समाज-हित के साथ-साथ आत्म-शुद्धि की ओर अग्रसर होता है।

तीसरा कषाय 'माया' है। दूसरो की निन्दा, कपट, कुटिलता आदि इसीमे आते हैं। इसका प्रयोग जब किसीके प्रति ईर्ष्या या बुरी भावना से होता है तो हेय है; किन्तु, यदि इसका प्रयोग दूसरों के हित-साधन या रचनात्मक कार्यों मे किया जाय तो उसका नाम कार्य-कुशलता हो जाता है, जो समाज के लिए उपयोगी तत्त्व है।

चौथा कषाय 'लोभ' है। जब व्यक्ति धन-सम्पत्ति या किसी बाह्य वस्तु मे इतना आसक्त हो जाता है कि उसे भले-बुरे का विवेक नही रहता, उस वस्तु की प्राप्ति के लिए सबकुछ करने को तैयार हो जाता है, तो वह लोभ है, और वह हेय है। किन्तु यदि मूर्च्छा अथवा आसक्ति को कम करते हुए लगन या निष्ठा को कायम रखा जाय, तो वही वृत्ति उपयोगी तत्त्व बन जाती है।

राग-द्वेष आदि अन्य पाप-वृत्तियो को भी इसी प्रकार से परिष्कृत और मगलमय बनाया जा सकता है। श्रावक की चर्या मे इसी मगलीकरण की मुख्यता है। यह सामाजिकता के द्वारा चित्त का परिष्कार करता है और इस प्रकार आत्म-शुद्धि की ओर बढाता है।

जहा समाज-सगठन का लक्ष्य 'स्व' वर्ग तक सीमित है और उसके सामने विश्व-कल्याण या आत्म-शुद्धि सरीखा कोई पारमार्थिक लक्ष्य नही है वहा सामाजिकता या राष्ट्रीयता घातक बन जाती है। हिटलर-कालीन जर्मनी तथा दूसरो के उत्पीडन द्वारा अपने भौतिक विकास की इच्छा करनेवाले अनेक सगठनो का उदाहरण हमारे सामने है। इन्हे स्वस्थ समाज नही कहा जा सकता। रचनात्मक कार्य की दष्टि से सामाजिकता किसी क्षेत्र तक सीमित रह सकती है, किन्तु उसका लक्ष्य सर्वोदय या आत्मकल्याण ही होना चाहिए, तभी उसे स्वस्थ सामाजिकता कहा जा सकता है। प्रत्येक श्रावक प्रतिदिन घोषणा करता है कि 'मेरी सब प्राणियो से मित्रता है', 'किसीसे वैर नही है'। सैद्धान्तिक दृष्टि से व्यापक होने पर भी मित्रता का विधेयात्मक रूप असीम नही हो सकता, अत उसके साथ यह भी लगा हुआ है कि मेरा किसीसे वैर नही है। अर्थात् क्षेत्र-विशेष में मित्रता का पोषण दूसरो के शोषण द्वारा नही होना चाहिए। यह आदर्श स्वस्थ एव समाज-रचना के लिए अनिवार्य है।

श्रावक के जीवन का दूसरा तत्त्व उसके व्रत है जिनकी सख्या १२ है। प्रथम पाच को 'अणुव्रत', तदनन्तर तीन को 'गुणव्रत' और चार को 'शिक्षाव्रत' कहा जाता है। अणुव्रतो में श्रावक स्थूल हिंसा, मृषावाद,

चोरी, अब्रह्मचर्य तथा परिग्रह का त्याग करता है। व्यक्ति तथा समाज के जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक सूक्ष्म हिंसा का यद्यपि वह त्याग नही करता, किन्तु उसे भी यथासम्भव सीमित करने का प्रयत्न करता है। इन व्रतो मे समाज-रचना के लिए आवश्यक सभी तत्त्वो का विधान है। प्रथम अणुव्रत मे निरपराध प्राणी को मारने का त्याग है, किन्तु अपराधी को दण्ड देने की छूट है। द्वितीय अणुव्रत मे धन-सम्पत्ति, परिवार आदि के विषय मे दूसरे को धोखा देने के लिए झूठ बोलने का निषेध है। इसी प्रकार झूठे दस्तावेज भी निषिद्ध है।

तीसरे व्रत मे व्यवहार-शुद्धि पर बल दिया गया है। व्यापार करते समय अच्छी वस्तु दिखाकर बुरी दे देना, दूध म पानी का मिश्रण, झूठा नाप-तोल तथा राज्य-व्यवस्था के विरुद्ध आचरण की मनाही है। चोरी करना तो वर्जित है ही, किन्तु चोर को किसी प्रकार की सहायता देना या चुराई हुई वस्तु को खरीदना भी वर्जित है। चौथा व्रत 'स्वदार-सतोष' है जो पारिवारिक सगठन का अनिवार्य तत्त्व है। पाचवे अणुव्रत मे धन-सम्पत्ति, नौकर-चाकर आदि को मर्यादित करने पर बल दिया गया है। जब वैयक्तिक सम्पत्ति की कोई मर्यादा नही रहती, तो सघर्ष उसका अवश्यम्भावी परिणाम है। अत समाज-रचना के लिए यह आवश्यक है कि वैयक्तिक सम्पत्ति पर नियन्त्रण हो। श्रावक उस नियत्रण को स्वेच्छापूर्वक स्वीकार करता है।

तीन गुणव्रतो मे प्रवृत्ति के क्षेत्र को सीमित करने पर बल दिया गया है। श्रावक को चाहिए कि शोषण या हिंसात्मक प्रवृत्तियो के क्षेत्र को मर्यादित करे और उसे उत्तरोत्तर सकुचित करता जाय। छठा व्रत इसीका विधान करता है। सातवें व्रत में भोग्य वस्तुओ को सीमित करने का आदेश है। आठवें में अनर्थ-दण्ड अर्थात् निरर्थक प्रवृत्तियो को रोकने का विधान है। हम बहुत-से ऐसे कार्य करते है जिनसे लाभ किसीको नही होता किन्तु साक्षात् या परम्परा से हानि पहुचती है। ऐसे कार्यो को अनर्थ-दण्ड कहा गया है। अन्तिम चार शिक्षा-व्रतो मे आत्मा के परिष्कार के

लिए कुछ अनुष्ठानो का विधान है । उनमे सयम, तप, समता-बुद्धि तथा सुपात्र-दान पर वल है । नवा सामायिक व्रत-समता की आराधना पर, दसवा सयम पर, ग्यारहवा तपस्या पर और बारहवा सुपात्र-दान पर अवलम्बित है । श्रावक के लिए १५ कर्मादान भी वर्जित है, अर्थात् उसे ऐसे व्यापार नही करने चाहिए जिनमे हिंसा की मात्रा वहुत अधिक हो या जो समाज-विरोधी तत्त्वों को पोषण देते हो । उदाहरण के रूप मे चोरो, डाकुओ या वेश्याओ को नियुक्त करके उन्हे अपनी आजीविका का साधन नही बनाना चाहिए ।

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पप्ट हो जाता है कि जैन धर्म सामाजिकता की उपेक्षा नही करता, उसे साधना के एक भूमिका-रूप मे स्वीकार करता है। साथ ही यह भी मानता है कि वह सर्वोच्च भूमिका नही है। जैन साहित्य मे अनेक श्रावको का वर्णन मिलता है। समाज मे उनका प्रतिष्ठित स्थान था। राजा तथा प्रजा सव जगह आदर था। लोग विभिन्न समस्याओ पर उनकी सलाह लेते थे ।

श्रावको के जीवन तथा वृत्तो के अध्ययन से पता चलता है कि जैन परम्परा की रचना का मुख्य लक्ष्य मध्यम वर्ग रहा है। ढाई हजार वर्ष का जैन इतिहास भी इसी तथ्य को प्रकट करता है। वह समाज न तो शोषितो अथवा मजदूरो का है और न शोषक नरपतियों का। अव हम सस्कृत-साहित्य को देखते है तो उसके नायक मुख्यतया राजा, राजर्षि या राजपुरोहित मिलते है। ब्राह्मण-साहित्य का सम्बन्ध प्रधानतया शासक-वर्ग के साथ रहा है। इसके विपरीत जैन साहित्य मध्यम वर्ग का चित्र उपस्थित करता है। वास्तव मे देखा जाय तो सुखी एव स्वस्थ समाज की रचना उसी वर्ग के द्वारा हो सकती है जिसमे किसीको शोषण या उत्पीडन का अधिकार न हो। सव-के-सव परस्पर-सहयोग द्वारा विश्व-मगल की ओर बढते चले जाय ।

खण्ड ५

: १ :

कुछ ज्वलन्त प्रश्न

प्रश्न—धर्म का मुख्य लक्ष्य प्रवृत्ति है या निवृत्ति ?

उत्तर—धर्म का मुख्य लक्ष्य निवृत्ति है, किन्तु वह जीवन की उच्च भूमिका है। उस भूमिका पर पहुचे बिना निवृत्ति पर बल देने से मिथ्याचार या दम्भ शुरू हो जाता है। जो व्यक्ति अपने लिए किसी प्रवृत्ति का आश्रय नही लेता, सभी स्वार्थो एव कामनाओ से ऊपर उठ चुका है, उसे प्रवृत्ति मे पडने की आवश्यकता नही है, किन्तु जो अपने लिए तो सब कुछ करता है और दूसरे का प्रश्न आने पर निवृत्ति का उपदेश देने लगता है, वह मिथ्याचारी ही कहा जायगा। समता धर्म का मूल सिद्धान्त है। यदि हम अपने लिए खाना-पीना, मकान मे रहना, लोकैषणा से प्रेरित होकर प्रचार करना तथा अन्य बातें आवश्यक मानते है, तो दूसरे की इन आवश्यकताओ को अनुभव करना ही चाहिए। दूसरे के भूखे होते हुए भी स्वय भरपेट भोजन करना, अपने पास पानी का सग्रह होते हुए भी प्यासे को पानी न देना, दूसरा धूप मे खडा है और स्वय मकान के अन्दर सुखपूर्वक बैठे रहना, दूसरे पर अन्याय अथवा अत्याचार हो रहा है, उसे बचाने की कोशिश न करना धर्म नही कहा जा सकता। यह वैषम्य है और वैषम्य का करना-कराना एव अनुमोदन करना ही नही, अपितु सहन करना भी पाप है। ऐसी स्थिति मे प्रवृत्ति ही धर्म है।

व्यक्ति को स्वार्थ से उठकर परार्थ, अर्थात् परोपकार, पर जाना चाहिए और परार्थ से परमार्थ, अर्थात् निवृत्ति पर। जो व्यक्ति अपनी आवश्यकताओ के लिए स्वार्थी है, वह सच्चा परमार्थी नही बन सकता।

स्वय मिठाई खाकर दूसरे को जिह्वालोलुपता से बचने का उपदेश देनेवाला क्या स्वाद मे सयम रखनेवाला कहा जायगा ? इसी प्रकार स्वय धन का सचय करके दूसरे को त्याग का उपदेश देनेवाला, स्वय असयमी रहकर दूसरे को ब्रह्मचर्य का उपदेश देनेवाला केवल उपदेश मात्र से त्यागी या ब्रह्मचारी नही बन जाता। वास्तव मे देखा जाय तो धर्म का लक्ष्य हिमालय के उच्च शिखर के समान है जहा पहुचने के लिए प्रारम्भ में रेलगाडी-मोटर आदि से यात्रा की जाती है, क्रमश सभी वाहन छोड दिये जाते है और पैदल चलना पडता है। अपना बोझ भी स्वयं उठाना पडता है। वहा पहुंचने तक वाहन अपने-आप छूट जाते है। किन्तु इसका यह अर्थ नही है कि प्रारम्भ मे भी उनकी आवश्यकता नही है। जो व्यक्ति प्रारम्भ से ही पैदल चलता है वह दूसरे को भी पैदल चलने के लिए कह सकता है, किन्तु स्वय रेलगाडी मे बैठकर दूसरे को पैदल चलने के लिए कहनेवाला स्वार्थी ही कहा जायगा। उस समय मैत्री का तकाजा यही है कि नीचे खडे व्यक्ति को भी बुलाकर अपने पास बैठा लिया जाय। ऐसे समय प्रवृत्ति ही धर्म है।

यह पहले बताया जा चुका है कि धर्म का लक्ष्य 'स्व' की ग्रन्थि को खोलना है। शुभ प्रवृत्ति भावनाओ का परिष्कार करती है और उससे 'स्व'-केन्द्रित मानव उत्तरोत्तर परार्थ की ओर झुकता है। किन्तु उसके सामने परमार्थ का लक्ष्य आवश्यक है, उस लक्ष्य के बिना पथ-भ्रष्ट होने की आशका बनी रहती है।

प्रश्न—क्या धर्म राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ का समाधान कर सकता है ? क्या ऐसी स्थिति सम्भव है जब पुलिस और सेना की कोई आवश्यकता न रहे ?

उत्तर—इस प्रश्न का उत्तर प्राप्त करने के लिए हमे 'समस्या' शब्द का अर्थ समझना होगा। जो बात एक व्यक्ति के लिए समस्या है, दूसरे के लिए नगण्य है। एक व्यक्ति एक पैसे के लिए झगड पडता है और मरने-मारने को तैयार हो जाता है, दूसरा व्यक्ति लाखो की सम्पत्ति

अर्थ-परित्याग करके आनन्द का अनुभव करता है। एक के लिए पैसे का न होना समस्या है और उसके समाधान के लिए वह दिन-रात व्याकुल रहता है, दूसरे के लिए पैसे का होना एक समस्या है और वह उसे त्यागने मे ही आनन्द का अनुभव करता है।

धर्म एक ऐसा दृष्टिकोण प्रदान करता है जिससे तथाकथित अनेक समस्याए केवल मन की मिथ्या धारणाए सिद्ध होती हैं और वे अपने आप समाप्त हो जाती हैं। राष्ट्रीय समस्याओ का समाधान मुख्यतया दो बातो से सम्बन्ध रखता है अपराधो का दमन और सर्वतोमुखी विकास। अपराधियो की मनोवृत्ति का अध्ययन करने से पता चला है कि वे अपने-इस कार्य से प्रसन्न नही है। उन्हे विवशताए ऐसा करने के लिए बाध्य करती हैं। बहुत-से व्यक्ति अभाव तथा अनुचित आशकाओ से प्रेरित होकर चोरी करने लगते है। जो व्यक्ति क्रोध या आवेश मे आकर एक बार किसीकी हत्या कर बैठता है, वह पुलिस के भय के कारण समाज मे नही रह पाता। परिणामस्वरूप उसे डाकू बनना पडता है। ऐसे सभी अपराधियो को यदि प्रेम तथा सहानुभूति के साथ समझाया जाय, उन्हें भयमुक्त कर दिया जाय और सभ्य नागरिक के रूप मे रहने दिया जाय, तो बहुतो मे परिवर्तन हो सकता है। सन्त विनोबा भावे के समक्ष खूखार डाकुओ द्वारा आत्मसमर्पण का उदाहरण हमारे सामने है। ऐसी अवस्था मे पुलिस का उपयोग भूले-भटके तथा पीडितो की सहायता एव अन्य रचनात्मक कार्यों के लिए होने लगेगा। अपराधियो के दमन का कार्य समाप्त नही तो गौण अवश्य हो जायगा। जिस राष्ट्र के नागरिक परस्पर-सहयोग एव सद्भावना से रहते हैं, उसमे अपराधियो की सख्या अपने-आप घटने लगती है। पुलिस की आवश्यकता पूर्णतया समाप्त हो या न हो, किन्तु यह निश्चित है कि व्यक्तियो के जीवन में ज्यो-ज्यो धर्म का प्रवेश होगा, दमन-कार्यों के लिए पुलिस की आवश्यकता कम होती जायगी।

अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ के लिए भी वही समाधान है। मानवता

के नाते समस्त विश्व के मानव एक ही समाज के सदस्य है, फिर भौगोलिक अथवा जातीय परिधियो के अस्तित्व का क्या महत्त्व है ! इन मिथ्या अस्मिताओ के सकीर्ण सस्कार ज्यो-ज्यो कम होगे, मानव मे विश्व-बन्धुत्व की भावना पनपेगी और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याए अपने-आप सुलझ जायगी। इन मिथ्या अस्मिताओ को दूर करना धर्म का ही कार्य है।

प्रश्न—मनुस्मृति मे कहा गया है 'जीवो जीवस्य जीवनम्'; अर्थात् 'एक जीव दूसरे जीव का भोजन है। एक के प्राण दूसरे के प्राणो पर टिके हुए है।' ऐसी स्थिति में क्या अहिंसा के आधार पर जीवन-निर्वाह हो सकता है ? क्या धर्म व्यवहार की वस्तु बन सकता है ?

उत्तर—यह पहले बताया जा चुका है कि धर्म की पूर्णता वहा होती है जहा व्यक्ति पूर्णतया आत्मनिर्भर हो जाता है। उसे अपने अस्तित्व के लिए दूसरे का सहारा लेने की आवश्यकता नही रहती। जबतक आत्मा और शरीर का सम्बन्ध है, वह स्थिति प्राप्त नहीं की जा सकती। किन्तु इसका यह अर्थ नही है कि धर्म जीवन-व्यवहार की वस्तु नही रही; वह तो जीवन की कला है। यह मान्यता ठीक नही कि हमारा जीवन दूसरे के प्राणो पर ही टिका हुआ है। हम अपने दैनन्दिन व्यवहार मे परस्पर-सहयोग और हिंसा दोनो का सहारा लेते है। सहयोग की मात्रा ज्यो-ज्यो बढती जाती है, जीवन सुखी एवं सम्पन्न बनता जाता है। इसके विपरीत ज्यो-ज्यो हिसा की मात्रा बढती है, वह अशांत और दु खी होता जाता है। धर्म कहता है जिन स्वार्थो की पूर्त्ति सहयोग से हो सकती है उनमे हिंसा का प्रयोग मत करो। जिनकी पूर्ति के लिए हिंसा ही एकमात्र सहारा है, उन्हे उत्तरोत्तर घटाते जाओ। इस प्रकार तुम्हारे जीवन मे सुख की वृद्धि होगी और तुम जिस समाज मे रहोगे, उसका वातावरण मगलमय बनता जायगा।

किसी सिद्धान्त की व्यावहारिकता के प्रश्न पर विचार करते समय केवल चरम अवस्था को आधार नही बनाना चाहिए। प्राथमिक कक्षा के विद्यार्थी के लिए स्नातकोत्तर शिक्षा व्यवहार्य नही है, फिर भी उसे

अव्यावहारिक नही कहा जा सकता। प्रत्येक सिद्धान्त की व्यावहारिकता अपनी-अपनी अनुकूल भूमिका पर आश्रित है। उच्चतम भूमिका में प्राप्त होनेवाला लक्ष्य प्राथमिक भूमिका मे व्यवहार की वस्तु भले ही न बने, फिर भी वह स्वस्थ लक्ष्य के रूप मे अवश्य कार्य करता है। इसी प्रकार यद्यपि पूर्ण अहिंसा वर्तमान जीवन में व्यवहार्य नही है फिर भी उस ओर बढना मगलमय है।

प्रश्न—क्या धर्म और भौतिक सुखों में परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है ? क्या उनमें कोई कार्य-कारण-भाव नहीं है ?

उत्तर—यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है, जिसपर विवेचन की आवश्यकता है। भौतिक सुखो की प्राप्ति के दो अर्थ है—प्रथम, ऐसी सामग्री की विपुल परिमाण मे प्राप्ति, जिसे भौतिक सुखो का कारण माना जाता है। द्वितीय, प्राप्त सामग्री से अधिक-से-अधिक सुख अथवा आनन्द का अनुभव। जहा तक सामग्री की अधिकता का प्रश्न है उसका धर्म से सम्बन्ध नही है। धर्म सुखानुभव के लिए बाह्य सामग्री की पराधीनता से मुक्त होने का मार्ग है, फिर भी धर्म ऐसी व्यवस्था उपस्थित करता है जिससे वैषम्य और अभाव को दूर किया जा सके। धर्म कहता है 'जियो और जीने दो।' इसका अर्थ है जीवन के लिए जो आवश्यक सामग्री है उस पर एकाधिपत्य मत करो। जबतक दूसरा व्यक्ति भूखा है, अन्न भडार पर एकाधिपत्य करना पाप है। धर्म मित्रता का सन्देश देता है। मित्रता का अर्थ है समानता का व्यवहार। यदि तुम्हारे पास दो रोटिया है और तुम्हारे मित्र के पास एक भी नही है तो एक उसे दे दो, और मिलकर खाओ। इससे तुम्हारे तथा तुम्हारे मित्र दोनो के आनन्द मे वृद्धि होगी। दोनो का जो प्रेम-सम्बन्ध जुड जायगा वह चिरकाल तक सुख एव आनन्द की वृद्धि करता रहेगा। इसके विपरीत यदि तुम अकेले खाने का प्रयत्न करोगे तो मित्र के मन मे ईर्ष्या एव द्वेष उत्पन्न होगा। वह चोरी-डकैती आदि अवैध उपायो का आश्रय लेगा। परिणामस्वरूप न तुम शान्ति से रह सकोगे, न वह रह सकेगा। धर्म सम-विभाग तथा परस्पर-सहयोग का

सन्देश देता है। इससे अभाव की समस्या बहुत अशो तक हल हो जाती है।

दूसरी बात यह है कि धर्म ईमानदारी सिखाता है। उससे समाज मे विश्वास तथा प्रतिष्ठा जमती है। परिणामस्वरूप उस व्यक्ति का व्यवसाय चमक जाता है। यदि वह नौकरी करता है तो वह विश्वासपात्र, ईमानदार एव परिश्रमी के रूप मे प्रीति प्राप्त कर लेता है। उसकी माग बढ जाती है और वह उत्तरोत्तर पदोन्नति प्राप्त करता है। धर्म ऐसे व्यक्तित्व का निर्माण करता है जिसकी ओर सम्पत्तिया स्वाभाविक रूप से खिची चली आती है।

अतः सम्पत्तियो को, धर्म का किसी दैवी शक्ति द्वारा प्रदत्त वरदान, न मानकर यह मानना अधिक उचित होगा कि उस व्यक्ति का जीवन सम्पत्तियो के लिए अनुकूल क्षेत्र बन जाता है, जहा वे उत्तरोत्तर वृद्धि प्राप्त करती है।

धर्म जीवन की वह कला है जिसके द्वारा व्यक्ति प्रत्येक परिस्थिति मे सुखी रह सके। इस कला से सम्पन्न व्यक्ति प्रतिकूल परिस्थितियो मे विचलित नही होता, साथ ही वह अत्यल्प सामग्री से भी अत्यधिक आनन्द प्राप्त करना जानता है। भोजन का स्वाद और आनन्द जितना सयमपूर्वक भोजन करनेवाले को मिलता है, उतना असंयमी को नही, प्रत्युत उसके लिए सुख-सामग्री भी कष्टदायक बन जाती है। मधुर एव पौष्टिक भोजन भी उसके लिए अजीर्ण एव अन्य कष्टो का कारण हो जाता है। इसी प्रकार एक व्यक्ति अपनी सम्पत्ति से दूसरो की सेवा करता है और स्वय भी आनन्द लेता है। उसकी सर्वत्र प्रतिष्ठा होती है। मित्रो की सख्या बढ जाती है और वह सभी प्रकार का सुख भोगता है। दूसरी ओर उसी धन से दूसरा व्यक्ति अपने मिथ्या गर्व का पोषण करता है जिससे दूसरो मे ईर्ष्या तथा द्वेष की अग्नि प्रज्वलित हो जाती है। चारो ओर शत्रु-ही-शत्रु दिखाई देते है और उनसे झगड़ा करते-करते ही जीवन-लीला समाप्त हो जाती है। वही सम्पत्ति एक के लिए सुख का कारण

है तथा दूसरे के लिए दु ख का। एक के लिए वरदान है तथा दूसरे के लिए अभिशाप। पडोसी एक की उन्नति का स्वागत करते हैं तथा दूसरे की उन्नति का विरोध। एक को देखकर प्रसन्न होते हैं और दूसरे को देखकर जलते हैं। इस प्रकार हम देखते है कि भौतिक सुखो की दृष्टि से भी धर्म अत्यन्त उपयोगी हे। इसके विना किसी भी क्षेत्र मे सुख प्राप्त नही किया जा सकता।